विश्व की कहानी

संसार का वर्तमान् सबसे महान् दूरवीक्षण-यंत्र—माउण्ट विल्सन वेधशाला का १०० इंच व्यास का दूरदर्शक जो २०० इंच व्यास के प्रस्तावित दूरदर्शक के बनकर तैयार न होने तक दुनिया का सबसे तीक्ष्ण गगनभेदी नेत्र माना जाता रहेगा। इस भीमकाय यंत्र के प्रधान दर्पण का व्यास १०० इंच, मुटाई १३ इंच और तौल सवा सौ मन है। तीन वर्ष में यह दर्पण ढाला जा सका, और सात वर्ष उसकी पालिश करने में लगे। ऊपर के कोने में इस यंत्र का संपूर्ण चित्र दिया गया है। निचले भाग में उसके निम्न सिरे का समीप से दिखाई पड़नेवाला दृश्य है। देखिए, एक ज्योतिषी उसकी सहायता से वेध कर रहा है।

दूरदर्शक के आविष्कार और विकास की कहानी

एवं कुछ प्रसिद्ध दूरदर्शक

पिछले प्रकरण में उस अद्भुत ज्योतिषीय यंत्र की रचना, कार्य-विधि और उपयोगिता का कुछ परिचय आप पा चुके हैं, जिसने हमारी ज्ञान-परिधि की सीमा को इस दृश्य जगत् के अनजान कोनों तक पहुँचा दिया है। किन्तु जटायु के समान दूर-दृष्टिवाले इस चमत्कारिक यंत्र के बारे में हमने अभी आपको बताया ही क्या! अभी तो उसकी लंबी कहानी का कितना ही अंश सुनने-सुनाने को बाक़ी है। तो फिर आइए, पहले उसके आविष्कार और विकास की ही कथा आपको सुनाएँ।

आज दिन अमेरिका में दो सौ इंच व्यास का संसार का सबसे महान् दूरदर्शक बन रहा है, जो आकाशीय पिंडों को क़रीब १०,००० गुना बड़ा करके दिखलाएगा, परंतु वैज्ञानिक यंत्र-निर्माण के इस विजय-शिखर तक चढ़ पाने में मनुष्य को सैकड़ों वर्ष लग गए हैं। दूरदर्शक-निर्माण के इतिहास का आरंभ आज भी अंधकार में छिपा हुआ है। कोई ठीक-ठीक नहीं जानता कि पहले-पहल सरल दूरदर्शक किसने बनाया, परंतु इसमें संदेह नहीं कि प्रसिद्ध गैलीलियो ने ही दूरदर्शक से पहले-पहल ज्योतिषीय आविष्कार किए। जब गैलीलियो मई १६०६ ई० में संयोगवश वेनिस गया तो उसने सुना कि बेल्जियम के किसी व्यक्ति ने ऐसा यंत्र बनाया है जिससे दूरस्थ वस्तुएँ निकट और बड़ी दिखलाई पड़ती हैं। गैलीलियो पैडुआ नगर में प्रोफ़ेसर था। उपर्युक्त समाचार पाते ही उसने विज्ञान की अपनी जानकारी के कारण अनुमान लगा लिया कि ऐसा यंत्र कैसे बना होगा। पैडुआ लौटते ही उसने अपना पहला दूरदर्शक बनाया। इसके लिए उसने सीसे धातु की नली के एक सिरे पर उन्नतोदर ताल लगाया और दूसरे पर नतोदर ताल। कुछ ही दिनों में उसने इससे भी अच्छा दूरदर्शक बना लिया और उसे लेकर वह वेनिस पहुँचा। वहाँ उसने इसे जनता में प्रदर्शित किया और अंत में उसे वेनिस के शासक को अर्पित कर दिया। उसी समय वहाँ की शासन-सभा की बैठक हो रही थी। गैलीलियो के इस आविष्कार के लिए सभा ने उसकी प्रोफ़ेसरी जन्म भर के लिए पक्की कर दी और वेतन दुगुना कर दिया। गैलीलियो पहले भी अन्य प्रोफ़ेसरों से ड्योढ़ा वेतन पा रहा था। इसलिए अब उसका वेतन दूसरों से तिगुना हो गया। गैलीलियो के प्रथम दूरदर्शक से कुल ३ गुना ही बड़ा दिखलाई पड़ता था, परंतु पीछे उसने ऐसे दूरदर्शक भी बनाए, जिनसे ३२ गुना बड़ा दिखलाई पड़ता था। अपने दूरदर्शकों से उसने चंद्रमा के पहाड़, सूर्य के कलंक, बृहस्पति के उपग्रह, शनि के वलय, इत्यादि का पता चलाया। उसके इन तथा अन्य महत्त्वपूर्ण आविष्कारों के कारण लोग उस व्यक्ति को प्रायः

गैलीलियो, जिसे दूरदर्शक को जन्म देने का श्रेय दिया जाता है, यद्यपि वास्तविक आविष्कारक एक डच था। बाईं ओर इस ज्योतिषी के दो दूरदर्शक प्रदर्शित हैं।
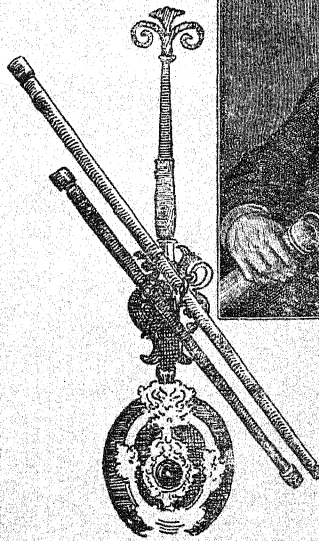
भूल ही गए, जिसने वस्तुतः दूरदर्शक का आविष्कार किया था। परंतु अंत में अपने आविष्कारों के कारण गैलीलियो को मिला कारावास का दंड! मृत्यु-दंड मिलते-मिलते बच गया!! बात यह हुई कि बृहस्पति के उपग्रहों को बृहस्पति के चारों ओर चक्कर लगाते देख गैलीलियो को दृढ़ विश्वास हो गया कि कोपरनिकस का ही सिद्धांत ठीक है, जिसके अनुसार सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों ओर चक्कर लगाती है। अंत में उसने एक पुस्तक लिखी जिसमें उसने बड़ी निर्भीकता से और अत्यंत प्रभावशाली भाषा में अपने विचारों को प्रकट किया। वैज्ञानिकों के बीच इस पुस्तक का बहुत आदर हुआ, परंतु उस समय के पोप (धर्म-गुरु) ने गैलीलियो के सिद्धांतों को ईसाई धर्म के विरुद्ध ठहराया और उसको दंड देने के लिए उसे अपने दरबार में बुलाया। केवल मित्रों के विशेष आग्रह से ही बूढ़े गैलीलियो ने—जिसकी आयु उस समय लगभग ७० वर्ष की थी—अपने वैज्ञानिक आविष्कारों को पोप के सामने झूठा मान लिया और इस प्रकार उसकी जान बच गई!

न्यूटन द्वारा निमत एक दर्पणयुक्त दूरदर्शक
जिसे हम आज के भीमकाय दर्पणयुक्त दूरदर्शकों का पुरखा कह सकते हैं!

गैलीलियो के दूरदर्शक में प्रधान ताल उन्नतोदर (बीच में मोटा, किनारे पर पतला) अवश्य था, जैसा सभी तालयुक्त दूरदर्शकों में रहता है, परंतु चक्षुताल नतोदर था। इस सिद्धांत पर अब भी सस्ते मेल के छोटे दूरदर्शक बनते हैं, परंतु अब साधारणतः उस चक्षुताल का उपयोग होता है जिसका आविष्कार हॉयगेन्स ने लगभग ७० वर्ष पीछे किया। गैलीलियो और हॉयगेन्स दोनों के दूरदर्शकों में विशेष त्रुटि यह थी कि उनमें रंग-दोष था—किसी श्वेत तारे को देखने पर वह श्वेत न दिखलाई पड़ता था; उसके चारों ओर रंगीन झालर-सी दिखलाई पड़ती थी। इसके प्रतिकार के लिए लंबे दूरदर्शकों का उपयोग किया जाने लगा—हॉयगेन्स का एक दूरदर्शक तो १२५ फ़ीट लंबा था—परंतु ये लंबे दूरदर्शक काम में लाते समय अत्यंत असुविधाजनक साबित हुए।

दर्पणयुक्त दूरदर्शक

रंग-दोष के कारण लोगों का ध्यान दर्पणयुक्त दूरदर्शकों के बनाने की ओर आकर्षित हुआ। प्रसिद्ध न्यूटन ने सन् १६६७ में एक छोटा-सा दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाया था। तब दूसरों ने भी ऐसे दूरदर्शक बनाए और वे इन्हें न्यूटन के दूरदर्शक से कहीं अधिक बड़ा बना सके। चक्षुताल की स्थिति में और चक्षुताल तक प्रकाश पहुँचाने की रीति में भी परिवर्त्तन किया गया, परंतु विशेष अच्छा दूरदर्शक इन दिनों नहीं बन पाया। कारण यह था कि प्रधान दर्पण को लोग शुद्ध परवलयाकार आकृति का नहीं बना पाते थे। इस कार्य में वास्तविक उन्नति तब हुई जब प्रसिद्ध ज्योतिषी विलियम हरशेल ने अपने बड़े-बड़े दूरदर्शक बनाए। किस प्रकार हरशेल ने अपने हाथ के बने दूरदर्शक से नवीन ग्रह यूरेनस का पता लगाया था, यह पहले बतलाया जा चुका है। इस आविष्कार के कारण ही वह राज-ज्योतिषी बना दिया गया था। अंत में उसने
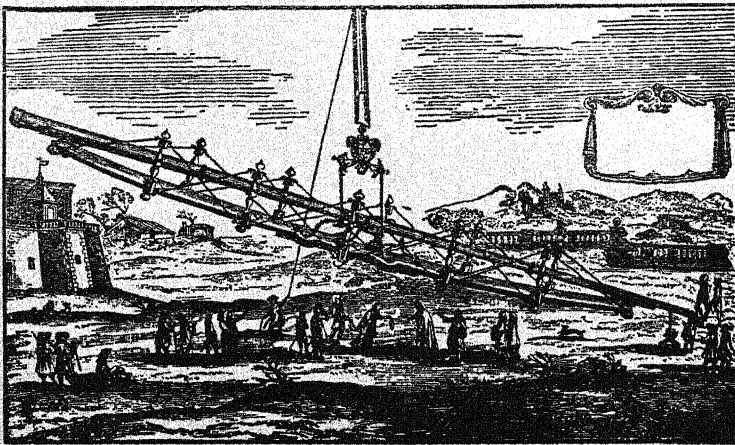
मध्ययुग के एक विशाल लंबे दूरदर्शक का चित्र

चार फ़ीट व्यास का एक दूरदर्शक बनाया, जिससे उसने शनि के दो नए उपग्रहों की खोज की। परंतु इतने भारी दूरदर्शक के आरोपण का वह अच्छा प्रबंध न कर सका और तापक्रम के घटने-बढ़ने के कारण भी बहुधा इससे आकाशीय पिंड अतीक्ष्ण दिखलाई पड़ते थे। इसलिए इसका अधिक उपयोग नहीं किया जा सका। हरशेल की रीतियों से रॉस के नवाब (Earl of Rosse) ने सन् १८४५ में ६ फ़ीट व्यास का एक दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाया, जिसमें कई-एक सुधार किए गए थे। इस दूरदर्शक से ही सर्पिल नीहारिकाएँ पहले-पहल देखी गई थीं।

हरशेल और रॉस के दूरदर्शकों के दर्पण फूल धातु के बने थे। इस धातु को हरशेल तीन भाग ताँबा और एक भाग राँगा तथा बहुत थोड़ा सा संखिया इन तीनों को गलाकर बनाया करता था। संखिया के डालने से फूल ज़्यादा श्वेत बनता है। पर धातु के बने दर्पणों में विशेष दोष यह होता है कि वे कुछ समय में विवर्ण हो जाते हैं। तब उन पर फिर पॉलिश करने की आवश्यकता होती है। परंतु इस तरह अधिक पालिश करने में उनकी कुछ आकृति बदल जाती है और उन्हें फिर सच्ची वलयाकार आकृति का करने में प्रायः उतना ही समय लगता है जितना पहली बार। अब दर्पण शीशे के बनते हैं और उन पर चाँदी या अल्युमिनियम की क़लई कर दी जाती है। जब वे विवर्ण हो जाते हैं तो क़लई को तेज़ाब से हटा दिया जाता है और तब दूसरी क़लई कर दी जाती है। इस प्रकार दर्पण की आकृति को एक बार ठीक कर देने पर बार-बार आकृति ठीक करने की असुविधा नहीं रहती। परंतु हरशेल के समय में शीशे का दर्पण बनाना किसी को सूझा ही न था; और सूझता भी कैसे—उस समय बड़े व्यास की शीशे की सिल्लियाँ बनाना कोई जानता भी तो न था!

रॉस के नवाब द्वारा प्रस्थापित छः फीट व्यास का महान् दर्पणयुक्त दूरदर्शक

जिससे पहले-पहल सर्पिल नीहारिकाएँ देखी गई थीं। यह दूरदर्शक आयर्लैंड के बर्र नामक स्थान में १८४२ ई० में स्थापित किया गया था और इससे कई महत्त्वपूर्ण अनुसंधान हुए!

तालयुक्त दूरदर्शक

इधर एक ओर तो दर्पणयुक्त दूरदर्शक ने इतनी उन्नति कर ली थी, दूसरी ओर तालयुक्त दूरदर्शक का भी विकास धीरे-धीरे हो रहा था। १७३३ में इँगलैंड के एक व्यक्ति चेस्टर मूर हॉल ने रंग-दोष-रहित ताल बनाने में सफलता पाई। उसने सोचा कि मनुष्य की आँख में जो प्रतिबिंब बनता है वह रंग-दोष-रहित होता है और संभवतः इसका कारण यही है कि आँख में ताल के साथ द्रव-पूर्ण कोष्ठ भी रहते हैं। इससे वह इस परिणाम पर पहुँचा कि संभवतः विविध बनावटों के तालों के मेल से रंग-दोष-रहित ताल बन सकेगा। प्रयोग करके उसने देखा कि वस्तुतः विभिन्न रासायनिक बनावटों के उन्नतोदर और नतोदर तालों को सटाकर रखने से रंग-दोष-रहित ताल बन जाता है। २५ वर्ष बाद इसी बात का आविष्कार डॉलैंड ने स्वतंत्र रूप से किया। परंतु तब भी बड़े तालयुक्त दूरदर्शकों का बनना इसलिए संभव नहीं था कि उस समय ३ इंच से बड़े नाप के स्वच्छ शीशे ढल नहीं पाते थे। जिस समय हरशेल अपना प्रथम दूरदर्शक बना रहा था उसी समय के लगभग स्विट्ज़रलैंड के एक कारीगर गुनैंड

ने चश्मा बनाने का कारख़ाना खोला। वह पीछे दूरदर्शक भी बनाने लगा, परंतु अच्छे शीशे न मिलने से उसे ऐसी असुविधा होने लगी कि वह स्वयं शीशा बनाने का काम करने लगा। ७ वर्ष तक लगातार परिश्रम करने पर भी वह इसमें विशेष सफल नहीं हुआ। तो भी हिम्मत न हारकर वह तत्परता से इसमें जुटा रहा, यहाँ तक कि शहर छोड़कर वह इस काम के लिए देहात चला गया। वहाँ उसने एक ख़ूब बड़ी भट्टी बनाई। वह घंटा ढालकर जीविका-निर्वाह करता तथा अनुसंधानों के लिए धनोपार्जन करता था और बड़ी मितव्ययता से रहकर अनेक प्रकार का कष्ट सहते हुए अपनी लगभग सारी आय शीशा बनाने में लगाता था। अंत में उसको अपनी कठिन तपस्या का फल मिल गया। वह ६ इंच का शीशा बनाने में सफल हुआ और मरते समय तक तो (१८२३ ई० में) उसने १८ इंच का शीशा बना डाला! गुनैंड के बने शीशों से १२ और १४ इंच के तालयुक्त दूरदर्शक बने और उनसे कई एक आविष्कार किए गए। गुनैंड के लड़के से अच्छा शीशा बनाने का भेद इँगलैंड के एक कारख़ाने ने सीखा और तब कुछ समय पश्चात् अन्यत्र भी बड़े आकार के शीशे ढलने लगे।

दूरदर्शकों का महान् निर्माता—ऐलवन क्लार्क जिसे अमेरिका के कई विशाल तालयुक्त दूरदर्शक बनाने का श्रेय प्राप्त है।
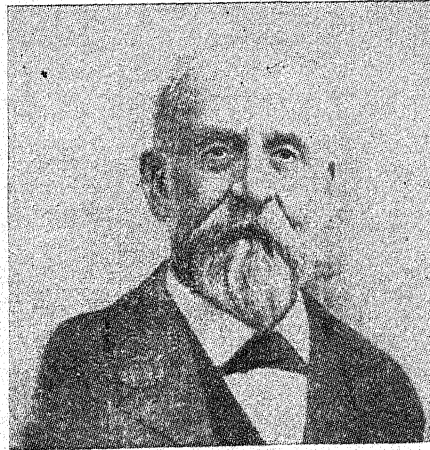
फ्राउनहोफ़र

जिन दिनों गुनैंड शीशा बनाने में व्यस्त था, उन्हीं दिनों जगत्-प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक फ्राउनहोफ़र चश्मा बनाने का व्यवसाय करता था। जोज़ेफ़ फ्राउनहोफ़र को तरुणावस्था में ही एक अति भयंकर दुर्घटना का शिकार होना पड़ा था। वह चौदह वर्ष की अवस्था में ग़रीबी के कारण म्युनिख़ शहर की एक गली के एक टूटे-फूटे मकान में रहता था। एक दिन मकान गिर पड़ा और उसके अन्दर रहनेवाले सब लोग दब गए। इस दुर्घटना में दूसरे सब तो मर गए, परंतु जब फ्राउनहोफ़र ईंट-पत्थर के नीचे से निकाला गया तो उसमें थोड़ा-सा जीवन शेष रह गया था। उसे चोट बड़ी गहरी लगी थी। तरस खाकर वहाँ के शासनकर्त्ता ने फ्राउनहोफ़र को १८ डूकाट (लगभग सवा सौ रुपए) दिए। इस रकम में से कुछ रुपयों से तो उसने पुस्तकें और शीशे पर शान चढ़ाने की एक चक्की ख़रीदी, और शेष सारी रक़म उसे दासत्व से मुक्ति पाने के लिए अपने मालिक को दे देना पड़ी। उसका स्वामी बड़ा ही निष्ठुर था। फ्राउनहोफ़र के माँ-बाप के मर जाने पर उसने उसे अपने यहाँ दर्पण बनाने के कारख़ाने में नौकर रख लिया था और उसके साथ बड़ी बुरी तरह का बर्ताव करता था। इस हत्यारे से पिंड छुड़ाने पर बहुत समय तक फ्राउनहोफ़र को जगह-जगह ठोकरें खानी पड़ीं। इस बीच वह बराबर पुस्तकों के अध्ययन से अपना ज्ञान भी बढ़ाता रहा। ५ वर्ष बाद उसे चश्मा, दूरदर्शक आदि बनाने के एक कारख़ाने में जगह मिल गई। अब वह रंग-दोष-रहित दूरदर्शक बनाने में जी-जान से भिड़ गया। ११ वर्ष के परिश्रम के बाद वह ९॥ इंच व्यास का दूरदर्शक बना सका, जो उस समय के लिए एक अत्यंत अद्भुत वस्तु थी और जिससे उसका नाम सारे वैज्ञानिक संसार में फैल गया। पीछे फ्राउनहोफ़र ने अन्य कई वैज्ञानिक तथ्यों का आविष्कार किया। सूर्य के वर्ण-पट की काली रेखाएँ आज भी उसके नाम पर 'फ्राउनहोफ़र रेखाएँ' कहलाती हैं।

फ्राउनहोफ़र के मरने के पश्चात् उसके कारख़ाने में दो १५ इंच व्यास के दूरदर्शक बने, जो उस समय अत्यंत आश्चर्य की दृष्टि से देखे जाते थे। इनमें से एक को रूस की पुलकोवा-वेधशाला ने ख़रीद लिया और दूसरे को बोस्टन (अमेरिका) के नगर-निवासियों ने ख़रीदकर हारवार्ड-विश्वविद्यालय को दे दिया।

अमेरिका में उन्नति

इसके लगभग ३० वर्ष बाद अमेरिका में ऐलवन क्लार्क ने त्रुटि-रहित दूरदर्शकों के बनाने में बड़ा नाम पैदा किया। सन् १८६० ईस्वी में क्लार्क को मिसिसिपि-विश्वविद्यालय से एक १८ इंच का दूरदर्शक बनाने का काम मिला। यह दूरदर्शक कारख़ाने से बाहर निकलने के पहले ही प्रसिद्ध हो गया, क्योंकि इसीसे पता चला कि आकाश का सबसे अधिक चमकीला तारा सिरियस (Sirius) इकहरा नहीं बल्कि युग्म-तारा है।
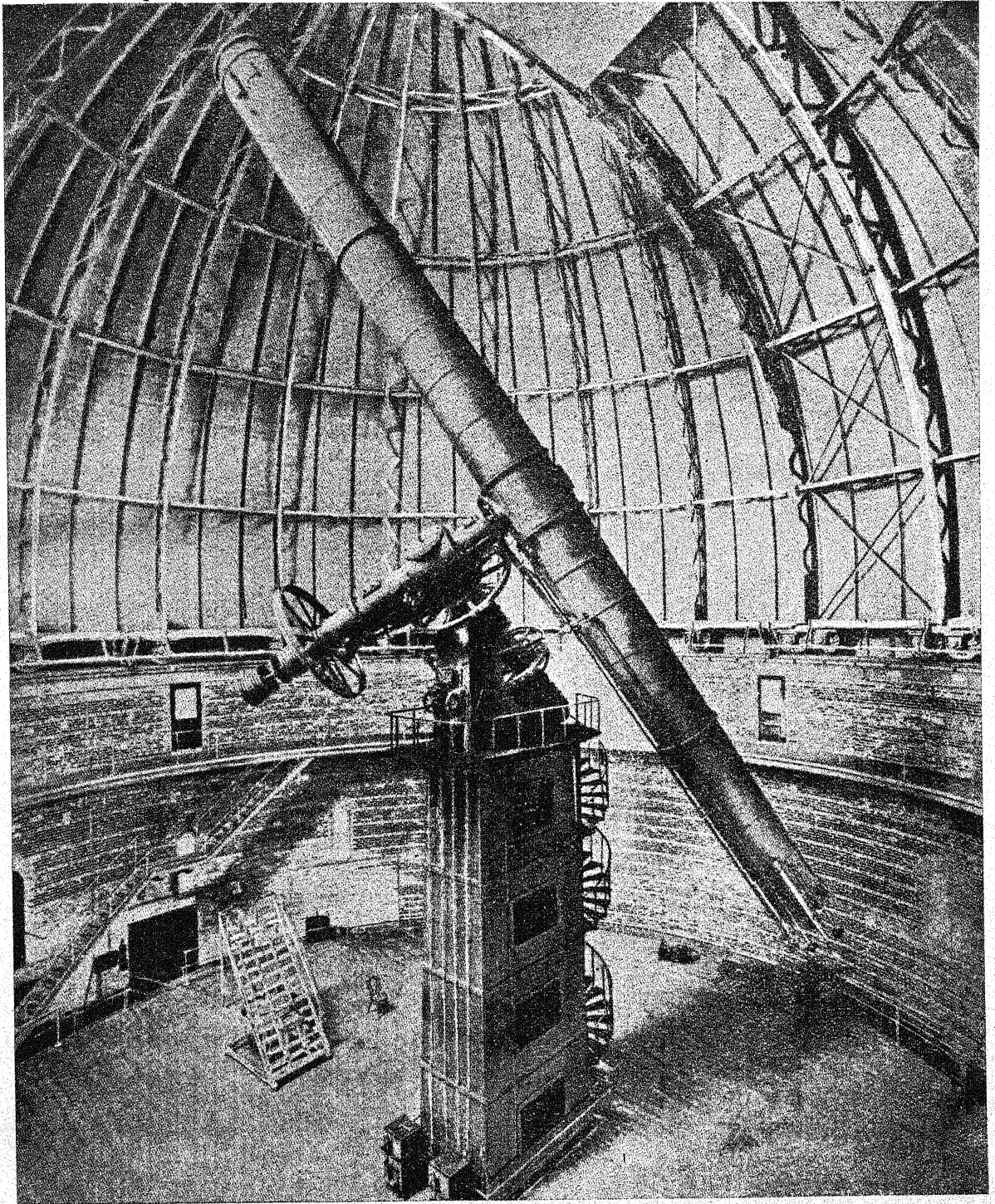
यरकिज़्-वेधशाला में प्रस्थापित ४० इंच व्यास का संसार का सबसे महान् तालयुक्त दूरदर्शक

आधुनिक ज्योतिष-संबंधी ज्ञान-साधना के कार्य में इस दूरदर्शक ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। यह एक उल्लेखनीय बात है कि जिस प्रकार माउण्ट विल्सन के १०० इंचवाले दर्पणयुक्त दूरदर्शक के भवन का ऊपरी गुम्बद वेध करनेवाले की इच्छा के अनुसार अत्यंत सरलता तथा बारीक़ी के साथ घुमाया जा सकता है, उसी तरह यरकिज़-वेधशाला के इस यंत्र के भवन की सारी फ़र्श ही इच्छानुसार ऊँची-नीची की जा सकती है और इस प्रकार ज्योतिषी आकाश में मनचाहे बिन्दु पर दृष्टि साध सकता है।
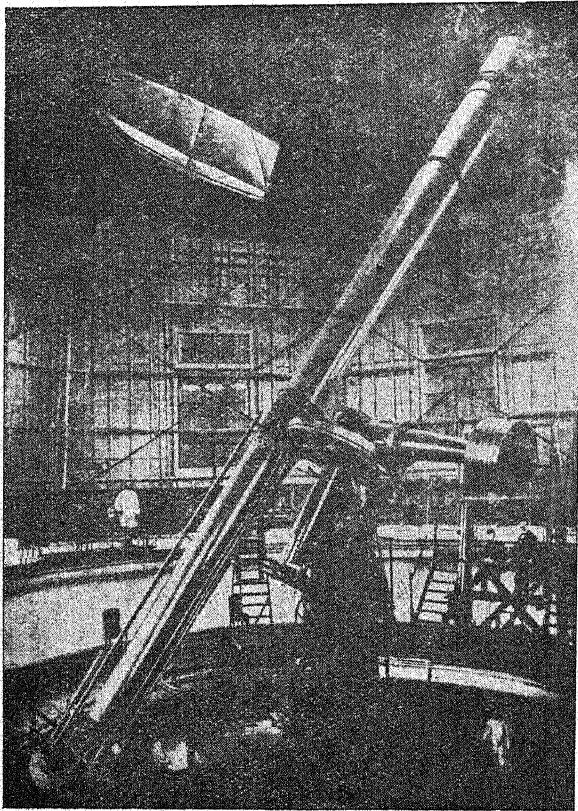
रूस की पुलकोवा-वेधशाला का ३० इंची दूरदर्शक

इस घटना के दस वर्ष के अन्दर ही इँगलैंड में टॉमस कुक ने २५ इंच व्यास का दूरदर्शक बनाया। कुक मोची का लड़का था और उसने दूरदर्शक बनाने का काम स्वयं ही, बिना उस्ताद के, सीखा था। यह दूरदर्शक आज भी केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में काम कर रहा है। इसके थोड़े ही दिनों के भीतर ऐलवन क्लार्क ने २६ इंच व्यास का दूरदर्शक बनाया, जिससे मंगल के दोनों उपग्रह पहले-पहल देखे गए। क्लार्क को इस दूरदर्शक के लिए लगभग साठ हज़ार रुपया दाम मिला था। तब १८८६ में लिक-वेधशाला के लिए ३६ इंच का दूरदर्शक भी ऐलवन क्लार्क ने ही बनाया। उस समय यह संसार का सबसे बड़ा दूरदर्शक था। यह एक झक्की करोड़पति मिस्टर लिक के दान का फल था। लिक की लालसा थी कि मेरी क़ब्र ऐसी शानदार बने कि सब कोई उसे याद करें। संयोगवश उसके मित्रों में से एक ज्योतिषी भी था। उसने सुझाया कि सबसे अपूर्व स्मारक यही होगा कि वह अपने नाम पर एक वेधशाला बनवा दे और वहाँ इतना बड़ा दूरदर्शक रख दे, जितना बड़ा संसार में अन्यत्र कहीं न हो। लिक ने ऐसा ही किया और उस बड़े दूरदर्शक के नीचे ही उसकी हड्डियाँ गड़ी हैं। लिक के वसीयतनामे के अनुसार यह वेधशाला प्रति शनिवार को जनता के लिए खुली रहती है। इस वेधशाला के लिए कुल मिलाकर ६,१०,००० डॉलर (लगभग १८ लाख रुपया) लिक ने दिया, जिसमें से ६०,००० डॉलर स्थायी कोष के रूप में जमा हैं।

परंतु संसार में सबसे बड़ा होने का गौरव लिक-दूरदर्शक के पास बहुत समय तक न रह सका। १८९२ में शिकागो के एक करोड़पति यरकिज़ ने कहा कि चाहे जितना ख़र्च लगे, हमारे शहर के विश्वविद्यालय के लिए जितना भी बड़ा दूरदर्शक बन सकता हो बनाओ। परिणामस्वरूप ऐलवन क्लार्क के स्थापित किए हुए कारख़ाने ने ४० इंच व्यास का दूरदर्शक बनाया। यह संसार के तालयुक्त दूरदर्शकों में आज भी सबसे बड़ा है और इधर कोई विशेष उम्मीद भी नहीं दिखलाई देती कि निकट भविष्य में इससे बड़ा दूसरा तालयुक्त दूरदर्शक कहीं बन सकेगा। इस दूरदर्शक से ज्योतिष का ज्ञान बहुत-कुछ बढ़ गया।

आधुनिक दर्पणयुक्त दूरदर्शक

हरशेल ने ४ फ़ीट व्यास का जो दूरदर्शक बनाया था उसमें एक दोष यह भी था कि वह अपने ही बोझ के कारण लच जाता था और इस कारण उसकी आकृति में अंतर पड़ जाता था। निस्संदेह यह अंतर अत्यंत सूक्ष्म था, तो भी यह इतना अवश्य था कि दूरदर्शक से आकाशीय पिंड वांछित रीति से तीक्ष्ण नहीं दिखलाई पड़ते थे। हरशेल के मरने के कुछ ही वर्षों के भीतर इसका उपाय एक कारख़ाने ने निकाला। उपाय यह है कि दर्पण की पीठ की ओर बहुत-से छोटे-छोटे उत्तोलक (छड़) लगा दिये जाते हैं। प्रत्येक उत्तोलक अपने एक विंदु के बल घूम सकता है। उत्तोलक के एक सिरे पर बोझ लगा रहता है। दूसरा सिरा दर्पण को इस बोझ के बराबर (या इसके किसी नियत अनुपात में) सहारा देता है। इस प्रबंध से दर्पण को बहुत-से स्थानों में थोड़ा-थोड़ा सहारा मिल जाता है। दर्पण उसी प्रकार उठा रहता है जैसे बहुत-से व्यक्ति दर्पण को अनेक स्थानों पर एक-एक अँगुली लगाकर उठाये रहें। इस प्रकार दर्पण का बोझ कई स्थानों में बँट जाता है और वह लच नहीं पाता।

रॉस के ६ फ़ीट व्यासवाले दर्पण में उपर्युक्त प्रबंध किया गया था। इसलिए, और अधिक सच्चा बने रहने के कारण भी, रॉस का दूरदर्शक अपने समय में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। इस दूरदर्शक के बनने के ७० वर्ष बाद तक लोगों का ध्यान, जैसा ऊपर बतलाया गया है, अधिकतर ताल-युक्त दूरदर्शकों की ओर ही लगा रहा। परन्तु यह देखकर कि तालयुक्त दूरदर्शक ४० इंच से बड़े संभवतः नहीं बन पाएँगे, वैज्ञानिकों का ध्यान एक बार पुनः दर्पणयुक्त दूर-दर्शकों की ओर गया। फलतः १६१८ में कैनाडा की डोमि-नियन ऐस्ट्रोफ़िज़िकल वेधशाखा में ७२ इंच का दर्पणयुक्त दूरदर्शक स्थापित हुआ। इसका दर्पण कलईदार शीशे का है। इसके अतिरिक्त एक और दर्पणयुक्त दूरदर्शक, जो संसार में इस समय सबसे बड़ा है, माउंट विल्सन की वेधशाला में लगा है। इसके दर्पण का व्यास वस्तुतः १००·४ इंच है। इस दूरदर्शक के चलभाग का तौल लगभग १०० टन (२,७०० मन) है। केवल दर्पण ही ४ टन का है और जिस शीशे से यह बनाया गया था वह १०१ इंच व्यास का, १३ इंच मोटा और तौल में ४॥ टन का था। यह दूरदर्शक इतना भारी होते हुए भी बड़ी सचाई और सुग-मता से अपने अक्ष पर घूमता है। कारण यह है कि चलभाग का अधिकांश बोझ दो ढोलों पर पड़ता है जो खोखले हैं और पारे पर तैरा करते हैं। इन ढोलों में से एक तो धुरी के निचले सिरे के पास है, दूसरा ऊपरवाले सिरे के पास। इस दूरदर्शक के चित्र में वे बरतन, जिनमें पारा है और जिनके भीतर ढोल तैरते हैं, स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु धुरी की दिशा इन ढोलों की स्थिति पर निर्भर नहीं है। अक्ष के सिरे स्थिर भाग में बने छेदों में घूमते हैं और इन छेदों की अचल स्थिति से अक्ष की वास्तविक दिशा निर्धारित होती है।

इस दूरदर्शक को शीघ्रता और सूक्ष्मता से चलाने के लिए अलग-अलग विद्युत् मोटरें लगी हैं। वस्तुतः छत, दूरदर्शक और इसके विविध अवयवों को चलाने के लिए कुल मिलाकर चालीस मोटरें लगी हैं, जो सब या तो वेधकर्त्ता के नियंत्रण में रहती हैं और चक्षुताल के पास से संचालित की जा सकती हैं, या सहायक के नियंत्रण में रहती हैं जो पास ही बैठा रहता है। इस दूरदर्शक में बंद नलिका के बदले लोहे की धरनों का खुला ढाँचा लगा है जिसकी मज़बूती उसी प्रकार की गई है जिस प्रकार पुलों की की जाती है। दूरदर्शक के सब अंग इतने दृढ़
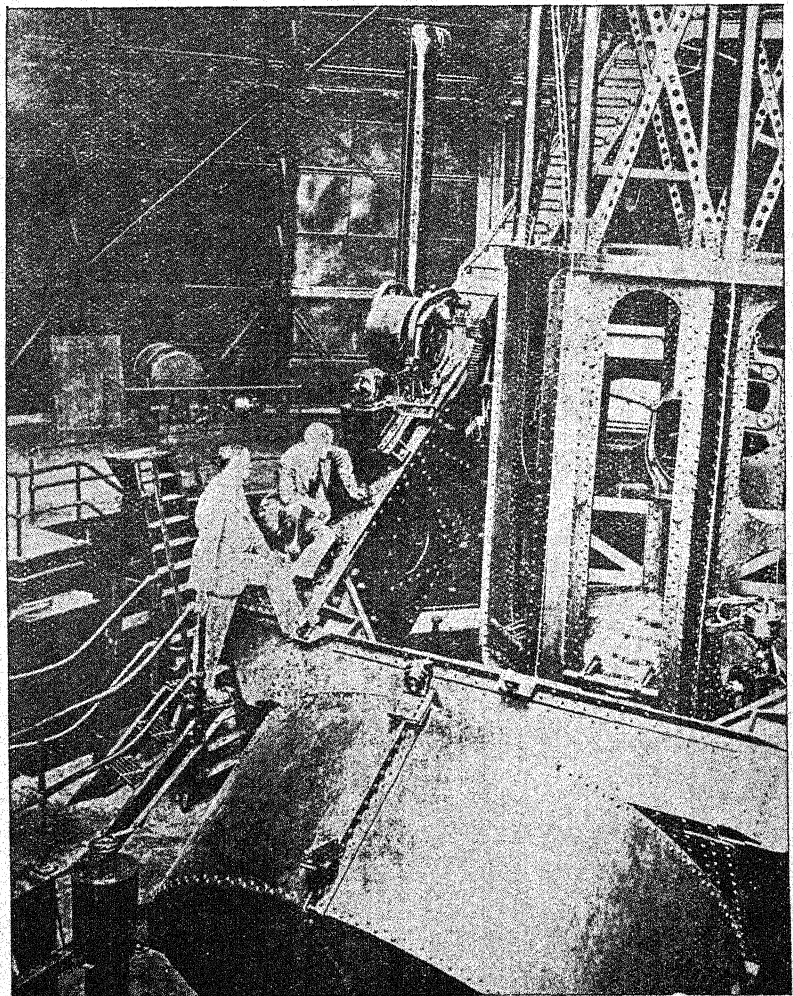
माउण्ट विल्सन वेधशाला के १०० इंच के दर्पणयुक्त दूरदर्शक का निम्न भाग। बाईं ओर वेधशाला के अध्यक्ष के साथ महान् ज्योतिर्विद सर जेम्स जीन्स खड़े हैं।

हैं कि इसके सिरे पर आदमी भी चढ़ जाय तो लेश-मात्र भी लचक न आएगी। वस्तुतः यह यंत्र इतना सच्चा चलता है कि इच्छा हो तो यह एक अंश (डिग्री) के १०,००० वें भाग तक घुमाया जा सकता है! जिस चौकी पर ज्योतिषी खड़ा होता है वह भी बिजली की मोटर से ऊँची-नीची की जा सकती है। यरकिज़ के ४०इंचवाले तालयुक्त दूरदर्शक के लिए इससे भी अच्छा प्रबंध है। वहाँ तो समूची फ़र्श ही ऊपर-नीचे खिसकती है और इस प्रकार ज्योतिषी सदा बड़ी निश्चिंतता के साथ अपने वेध कर सकता है। माउंट विल्सन के १०० इंचवाले दूरदर्शक की गोलाकार छत १०० फ़ीट व्यास की है। इस दूरदर्शक तथा इसके आरोपण, गृह आदि के निर्माण में लगभग १६ लाख रुपए ख़र्च हुए थे।

(ऊपर) कैनाडा का ७२ इंचवाला दर्पणयुक्त दूरदर्शक।
(नीचे) २०० इंचवाला प्रस्तावित महान् दूरदर्शक।
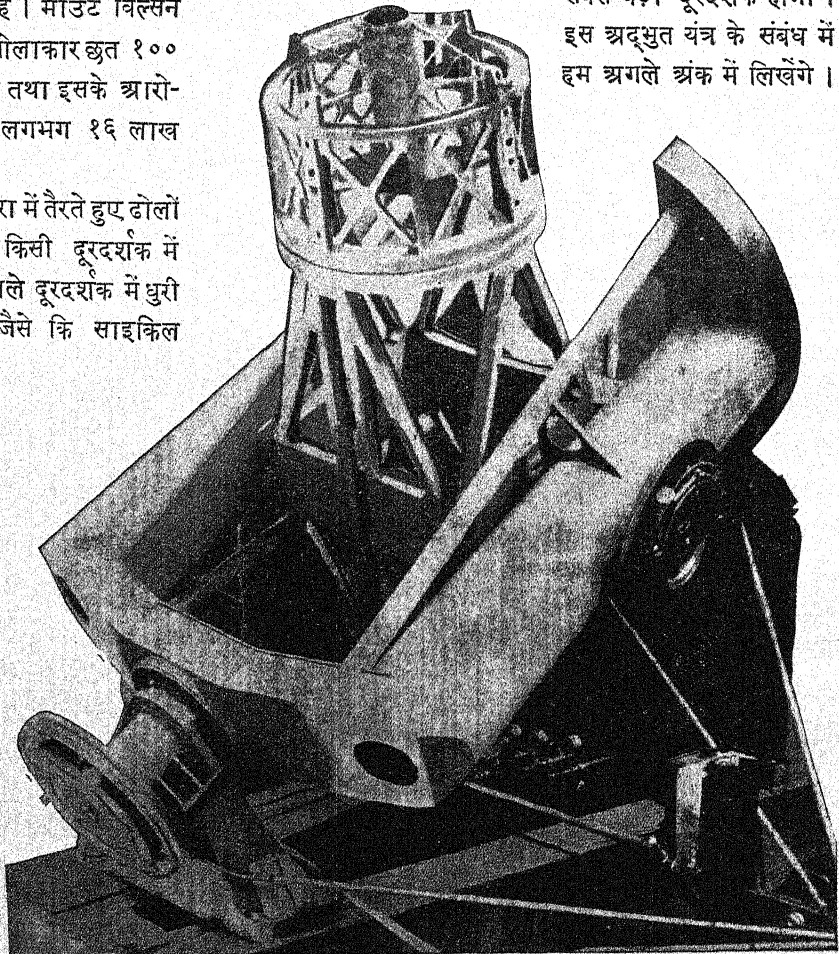
१०० इंचवाले दूरदर्शक में पारा में तैरते हुए ढोलों का जैसा प्रबंध है, वैसा अन्य किसी दूरदर्शक में नहीं है। कैनाडा के ७२ इंचवाले दूरदर्शक में धुरी के नाचने के लिए छर्रे लगे हैं, जैसे कि साइकिल या मोटर के पहियों में होते हैं। साधारणतः ज्योतिषियों को इस प्रकार के बॉलबेयरिंग में विश्वास नहीं होता, क्योंकि यद्यपि ऐसा प्रबंध बहुत टिकाऊ होता है और इससे दूरदर्शक भी बहुत हलका चलता है, तो भी ज्योतिषी को खटका लगा रहता है कि वह कल्पनातीत सूक्ष्म रेखा जो दूरदर्शक के घुमाने पर निश्चल रह जाती है और जो ही वस्तुतः यंत्र की धुरी है, कहीं छर्रों की सूक्ष्म असमानता के कारण थोड़ी-बहुत विचलित न हो जाय। यही कारण है कि ज्योतिषी छर्रों का प्रयोग न करके साधारण छेदों में पड़ी बेलनाकार धुरी, को अधिक पसंद करते हैं। हाँ, यदि बोझ इतना अधिक हो कि दूरदर्शक के भारी चलने का या धुरी के शीघ्र घिस जाने का डर हो तो वे बोझ को किसी प्रकार का सहारा अवश्य दे देंगे।

अब तो कोई पंद्रह वर्ष से २०० इंचवाला दूरदर्शक बन रहा है और उसका अब (१९४२ में) बहुत थोड़ा-सा ही काम शेष रह गया है। यह तैयार हो जाने पर संसार का सबसे बड़ा दूरदर्शक होगा। इस अद्भुत यंत्र के संबंध में हम अगले अंक में लिखेंगे।
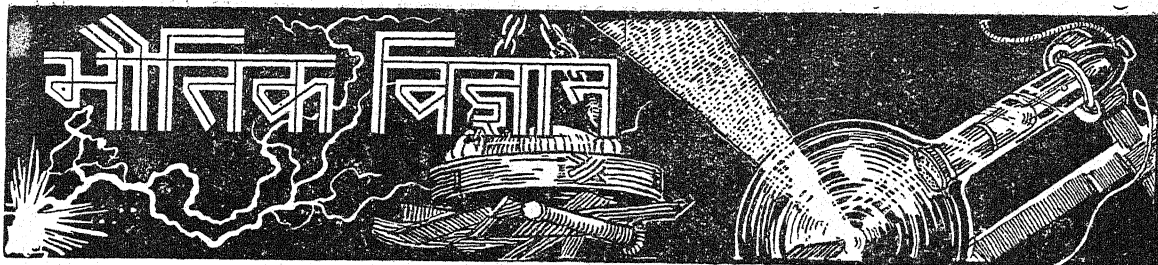
आलोक-तरंगों का रहस्य

आलोक के विश्लेषण के फलस्वरूप जो सतरंगी पट्टी हमें दिखाई पड़ती है, वह केवल एक अंश तक ही उक्त रश्मि के अवयवों की एक झलक हमें दिखा पाती है। वस्तुतः उसके गर्भालय में और भी कई ऐसी रहस्यपूर्ण किरणें छिपी हैं जो हमें अपने चर्म-चक्षुओं से तो नहीं दिखाई देतीं, पर वैज्ञानिक की आँखों ने निश्चित् रूप से जिनका पता पा लिया है। वे क्या हैं, आइए, इस लेख में समझने का प्रयत्न करें। साथ ही यह भी देखें कि 'आलोक की तरंगें' कहने से वैज्ञानिकों का क्या तात्पर्य है और किस प्रकार हम जान सकते हैं कि दूरी तय करने में आलोक को भी समय लगता है!

पिछले लेख में हमने देखा कि श्वेत रश्मि काँच के त्रिपार्श्व में से होकर निकलने पर इन्द्रधनुष के सात रंगों में विभाजित हो जाती है। पर सूर्य से आई हुई रश्मि का विस्तरण इस सतरंगी पट्टी के दोनों छोर तक ही सीमित हो, सो ही नहीं। अवश्य रश्मि के इस विस्तरण-चित्र में इन सात रंगों के अतिरिक्त अन्य कुछ हमारी आँखों को नहीं दिखलाई देता। हाँ, कासनी रंगवाले पट के छोर के आगे ही उपर्युक्त रश्मिचित्र के बाहर यदि हम एक फ़ोटोग्राफ़ी की प्लेट रखें तो इस प्लेट के मसाले में ठीक उसी प्रकार के परिवर्त्तन हो जाते हैं, जिस प्रकार उस पर दृश्य रश्मियों के पड़ने पर होते हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवश्य रश्मि का विस्तरण इस सतरंगी पट्टी के कासनी छोर के आगे तक फैला हुआ है। इन अदृश्य किरणों को पराकासनी (Ultra-violet Rays) का नाम दिया गया है। अवश्य पराकासनी रश्मियाँ भी आलोक-रश्मियों की ही जाति की हैं, केवल इनके गुण में अन्तर है। साधारण आलोक-रश्मियाँ हमारे दृष्टि-पटल को प्रभावित करती हैं, किन्तु पराकासनी किरणों की अनुभूति हमारी आँखें नहीं कर पातीं। हाँ, फ़ोटो की प्लेट इन किरणों से प्रभावित होती है और कहीं अधिक तीव्र रूप में।

कासनी रंगवाले सिरे की भाँति दृश्य रश्मिचित्र के लाल सिरे के परे की पट्टी की ओर भी अन्वेषकों का ध्यान गया। सन् १८०० में विलियम हर्शेल ने एक थर्मामीटर की घुण्डी को काले रंग से रँग दिया, ताकि उस पर पड़नेवाली रश्मियों को थर्मामीटर भली भाँति अपने में सोख सके। इस थर्मामीटर को उसने जब रश्मि-चित्र के लालवाले सिरे से कुछ दूर आगे रखा तो

(ऊपर) आलोक का संपूर्ण वर्णपट।

(दाहिनी ओर) इसी के एक अंश दृश्य वर्ण-पट का परिवर्द्धित मान-चित्र।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि दृश्य वर्ण-पट संपूर्ण वर्ण-पट या 'ईथर स्पेक्ट्रम' का एक तुच्छ अंशमात्र ही है।
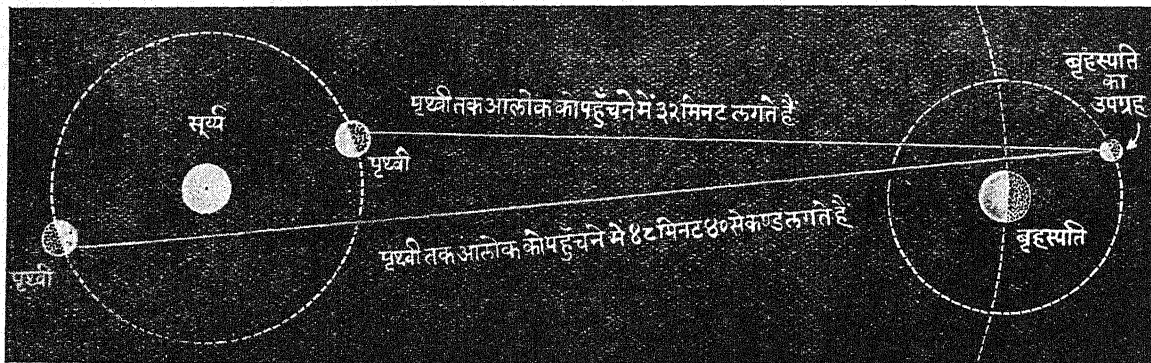
अपनी कक्षा पर पृथ्वी की दो भिन्न-भिन्न स्थितियों के समय बृहस्पति के उपग्रह से आलोक के पहुँचने में जो न्यूनाधिक समय लगता है, उसका अंतर देखकर ही रोमर ने यह निश्चय किया था कि आलोक-रश्मि को दूरी तय करने में कुछ न कुछ समय लगता है और वह समय है प्रति १,८६,००० मील के लिए एक सैकंड (दे० पृ० २०८२ का मैटर)।

थर्मामीटर में पारा ऊपर चढ़ता हुआ दिखलाई दिया! स्पष्ट था कि इस छोर पर भी रश्मि का विस्तरण दृश्य पट्टी से आगे तक पहुँचता है। इन किरणों को 'इन्फ्रा-रेड' रश्मियों के नाम से पुकारते हैं। रश्मिचित्र के इन्फ्रा-रेड प्रदेश के तापक्रम की जाँच के लिए रेडियो-माइक्रो-मीटर-सरीखे सूक्ष्म थर्मामीटर काम में लाये जाते हैं।

पराकासनी तथा इन्फ्रारेड प्रदेश की रश्मियों की जाँच करते समय साधारण काँच के त्रिपार्श्वों का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये रश्मियाँ काँच के माध्यम को मुश्किल से पार कर पाती हैं। वे प्रायः इनके अन्दर ही विलीन हो जाती हैं। अतः पराकासनी रश्मियों की जाँच के लिए स्फटिक काँच के त्रिपार्श्व तथा लेन्स और इन्फ्रारेड के लिए स्वच्छ पर्वतीय नमक (Rock salt) के त्रिपार्श्व तथा लेन्स काम में लाये जाते हैं। वायु भी पराकासनी किरणों को आसानी से सोख लेती है, अतः पराकासनी रश्मियों का चित्र प्राप्त करने के लिए रश्मि-विस्तरण का प्रयोग वायुरहित शून्य में करना होता है।

इन अदृश्य रश्मियों के बारे में एक मनोरंजक बात यह मालूम हुई कि वर्णपट पर जितनी दूर तक दृश्य रश्मियों का फैलाव है, उनसे कहीं अधिक फैलाव पराकासनी तथा इन्फ्रारेड रश्मियों का है। फिर तो बरबस हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विभिन्न रश्मियों में से कुछ थोड़ी-सी ही रश्मियाँ हमें दृष्टिगोचर हो पाती हैं—शेष हमारे दृष्टिपटल पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकतीं।

रश्मि-जगत् की इस अनोखी बात का महत्व समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम आलोक की वास्त-विकता को पहचानने का प्रयत्न करें। सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ गणितज्ञ तथा वैज्ञानिक न्यूटन ने इस प्रश्न के उत्तर में अपने निज का एक सिद्धान्त वैज्ञानिकों के सामने रक्खा था। न्यूटन का कहना था कि प्रकाशोत्पादक से निकल-कर पदार्थ के अत्यन्त ही नन्हें-नन्हें अदृश्य कण तीव्रतम गति से चारों ओर को विकीरित होते हैं—ये ही कण हमारी आँखों में प्रवेश कर हमें आलोक का अनुभव कराते हैं। ठीक इन्हीं दिनों न्यूटन के समकालीन डच वैज्ञानिक हॉयगेन्स ने आलोक के प्रसार का एक प्रति-द्वन्द्वी सिद्धान्त विज्ञान-जगत् के सामने रक्खा। उसके मत के अनुसार प्रकाशोत्पादक के कणों के कम्पन द्वारा एक विशेष प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती हैं। इन्हीं तरंगों के रूप में प्रकाश अपने उद्गम से चारों ओर फैलता है। इन दोनों ही सिद्धान्तों को लेकर तत्कालीन वैज्ञानिकों में काफ़ी वादविवाद चला। न्यूटन के समर्थकों ने हॉयगेन्स से पूछा—"नई तरंगों के आगे बढ़ने के लिए माध्यम अवश्य होना चाहिए। पृथ्वी के वायुमण्डल से बाहर सुदूर आकाश में एकदम वैकुअम (रिक्त प्रदेश) करोड़ों मील तक फैला हुआ है। फिर भी सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों से हमें प्रकाश प्राप्त हो जाता है, यह कैसे सम्भव है ?"

हॉयगेन्स ने फौरन् ही उत्तर दिया—"माध्यम है कैसे नहीं! ईथर नाम का माध्यम अंतरिक्ष (space) मात्र में फैला हुआ है। यह माध्यम विचित्र गुण रखता है। इसके अन्दर हद दर्जे का लचीलापन (elasticity) मौजूद है, साथ ही यह इतना विरल है कि ठोस वस्तुओं के अणुओं के बीच में से भी होकर अत्यन्त आसानी के साथ यह निकल जाता है।"

फिर इस वाद-विवाद में कुछ गणितज्ञों ने गणित के नियमों के आधार पर यह बात साबित की कि न्यूटन का सिद्धान्त यदि सही मान लिया जाय तो प्रकाश

फिज़ो का प्रयोग—प्रकाशोत्पादक 'प' से प्रकाश लेन्स में से होकर दर्पण 'द' पर पड़ता और परावर्त्तित हो बिन्दु 'फ' पर केन्द्रित होता है। तब एक लेन्स द्वारा समानान्तर रश्मियों के पुंज के रूप में आगे बढ़ लंबा फासला तय करके अन्य एक लेन्स द्वारा पुनः एक नतोदर दर्पण पर केन्द्रित हो जाता है। यहाँ से परावर्त्तित हो उसी पुराने मार्ग से पुनः उद्गम-स्थान 'प' पर पहुँच जाता है। दर्पण 'द' में एक सूराख़ है जिसके रास्ते उस पार को रोशनी दिखाई पड़ती है। साथ ही जहाँ पर 'द' से परावर्त्तित हो रश्मियाँ एक बिन्दु पर केन्द्रित होती हैं वहाँ एक दाँतदार घूमनेवाला पहिया है। अब यदि पहिया इस रफ़्तार से घुमाया जाय कि दो दाँतों के बीच की खाली जगह से जो आलोक-रश्मियाँ नतोदर दर्पण की ओर गई हैं, वे परावर्त्तित होकर जब तक लौटें, तब तक उस ख़ाली जगह पर पहिये का एक दाँत पहुँच जाय, तो ऐसी हालत में 'द' के सूराख़ में से रोशनी बिल्कुल नहीं दिखलाई पड़ेगी। यदि पहिए के दाँतों की संख्या मालूम हो तो, इसके घूमने की रफ़्तार मालूम करके हम हिसाब लगा सकते हैं कि कितनी देर में पहिए का दाँत खिसक-कर बग़लवाले खाली भाग के स्थान पर आ जाता है। अवश्य इतनी ही देर में आलोक ने पहिए और नतोदर दर्पण के बीच की दूरी का दूना फ़ासला तय किया। (विशेष विवरण के लिए दे० पृ० २०८३-८४ का मैटर)।
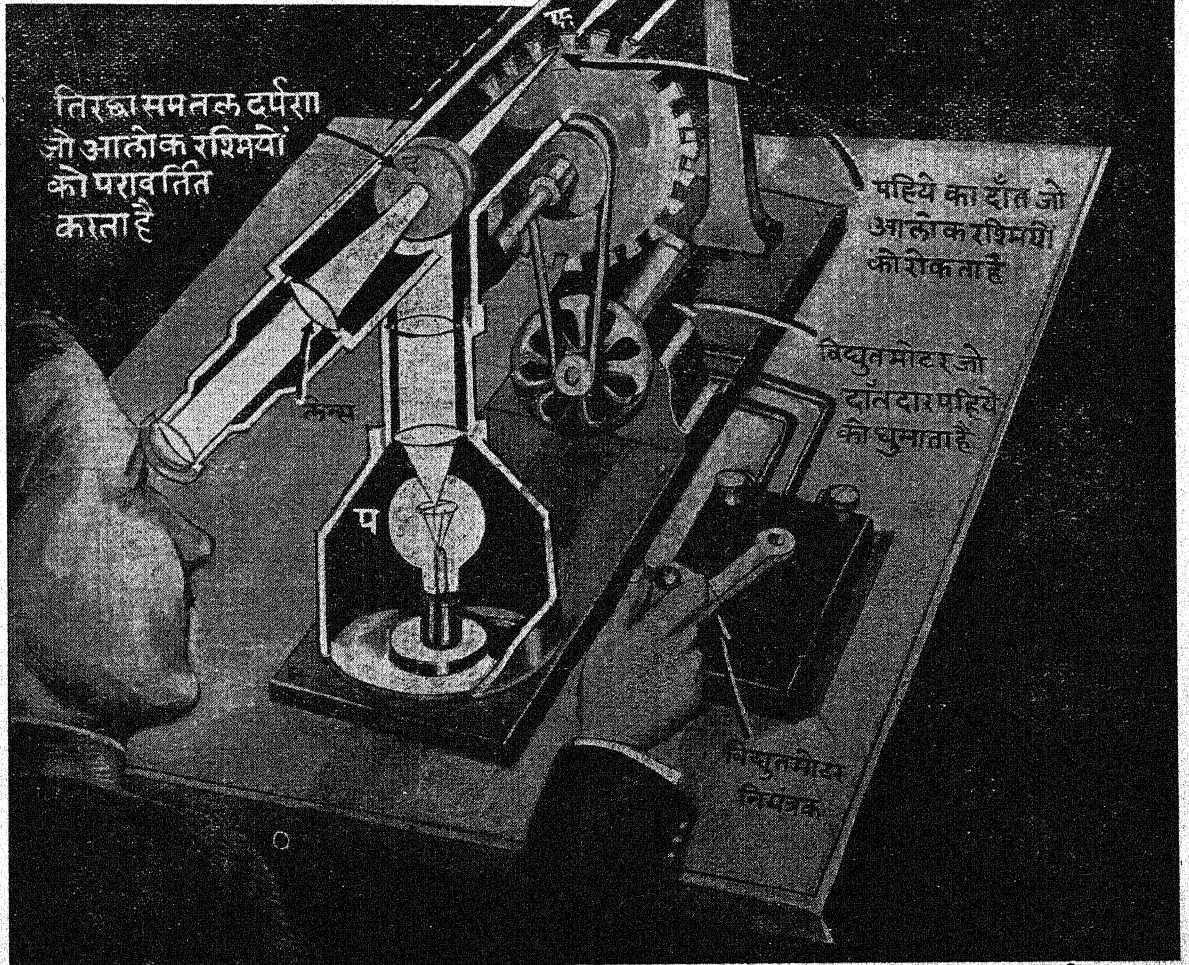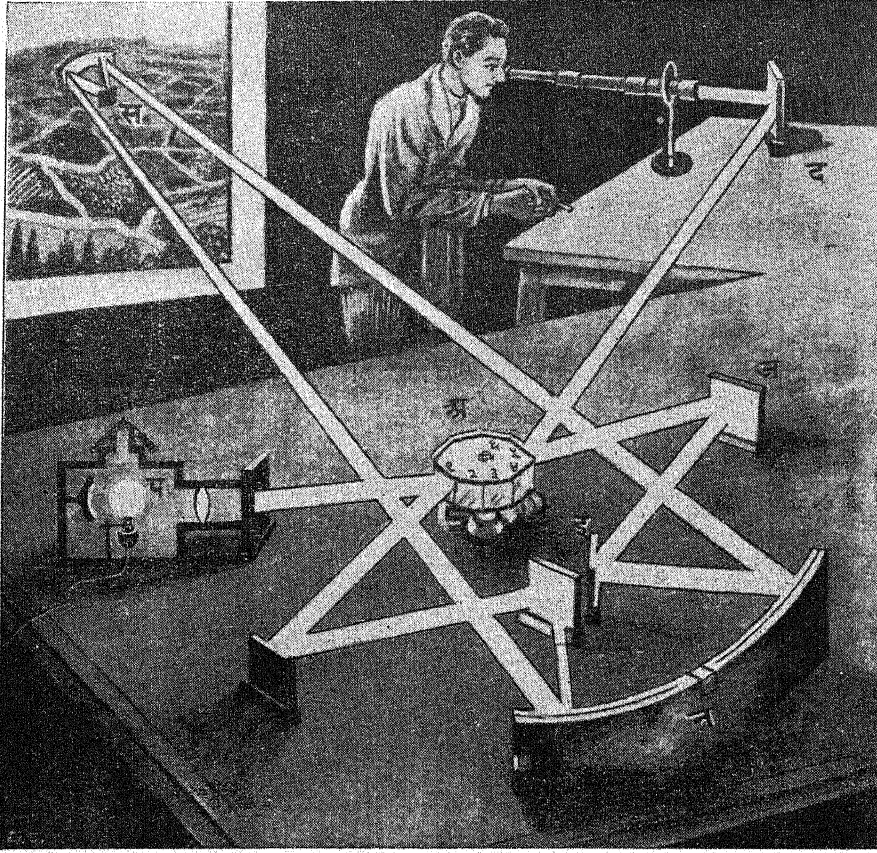
आलोक की गति जानने के लिए माइकेल्सन का प्रयोग (विवरण के लिए दे० पृ० २०८४)

की आगे बढ़ने की गति घने माध्यम—अर्थात् जल या काँच—में हवा की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए। इसके प्रतिकूल यदि हॉयगेन्स का सिद्धान्त सही माना जाय तो प्रकाश की गति हवा में अधिक होनी चाहिए और जल या काँच में कम। किन्तु इस चोखी कसौटी पर न्यूटन तथा हॉयगेन्स के सिद्धान्त उनके जीवन-काल में न कसे जा सके। तत्कालीन वैज्ञानिकों को प्रकाश की गति नापने के तरीक़े ही नहीं मालूम थे। यह बात सत्रहवीं शताब्दी की है। और सच तो यह है कि उस ज़माने के लोगों की धारणा थी कि प्रकाश को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में समय लगता ही नहीं! इसकी गति अपरिमित समझी जाती थी।

तब १६७५ में डेन्मार्क के एक ज्योतिषी रोमर ने बृहस्पति के उपग्रहों के ग्रहण-काल का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करके पहली बार यह साबित किया कि प्रकाश को भी दूरी तय करने में समय लगता है। गणना के आधार पर उसने पहले ही मालूम कर लिया कि बृहस्पति के उपग्रहों के ग्रहण अब आगे कब-कब लगेंगे। फिर उसने दूरदर्शक से देखा कि वास्तव में गणना के अनुसार ठीक उन्हीं समयों पर ग्रहण लगते हैं या नहीं। उसने देखा कि आरम्भ में तो गणना द्वारा निर्धारित समय पर ही इन ग्रहणों की पुनरावृत्ति होती है। किन्तु ६ महीने बाद जब पृथ्वी अपनी कक्षा पर दूसरी ओर चली जाती है, तब ये ग्रहण गणना द्वारा नियुक्त समय पर नहीं लगते—वरन् अपने नियुक्त समय से १६ मिनट ४० सेकण्ड बाद में लगते दिखलाई पड़ते हैं। रोमर पहले तो बहुत घबराया, फिर उसने इस प्रयोग पर सोचा-विचारा। अन्त में उसने यह गुत्थी सुलझा ही ली। उसने देखा कि जिन दिनों पृथ्वी अपनी कक्षा के उस छोर पर रहती है जो बृहस्पति के निकट है, उन दिनों बृहस्पति के उपग्रहों के ग्रहण ठीक समय पर लगते दिखलाई पड़ते हैं, और जब पृथ्वी दूसरे छोर पर बृहस्पति से बहुत दूर पहुँच जाती है, तब इन दिनों ग्रहण अपने नियत समय से १६ मिनट ४० सेकण्ड देर में लगते दिखलाई पड़ते हैं। उसने सोचा कि इन उपग्रहों में ग्रहण तो नियत समय पर ही लगता होगा, अवश्य समय की गड़बड़ी इस कारण है कि पृथ्वी अपनी कक्षा के दूसरे छोर पर अब आ गई है—जिन दिनों यह कक्षा के उस छोर पर थी जो बृहस्पति के निकट है, उन दिनों की अपेक्षा अब वह लगभग ६ करोड़ २० लाख मील दूर हट आई है। स्पष्ट है कि ग्रहण का विलंब से होना केवल इसी कारण से है कि आलोक को इस ६ करोड़ २० लाख मील की लम्बी दूरी को तय करने में १६ मिनट ४० सेकण्ड लगते हैं। इस हिसाब से आलोक की

गति प्रति सेकण्ड १,८६,००० मील निश्चित् हो गई। तदुपरान्त प्रयोगशाला में भी आलोक की गति मालूम करने के निमित्त अनेक प्रयोग किए गए। इन सभी प्रयोगों में वह प्रति सेकण्ड १,८६,००० मील ही निकली। इस ढंग का सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय फ़िज़ो को प्राप्त है। फ़िज़ो के प्रयोग में (दे० पृ० २०८१ का चित्र) प्रकाशोत्पादक 'प' से तीव्र प्रकाश लेन्स में से होकर एक तिरछे रखे हुए दर्पण 'द' पर पड़ता है। इस दर्पण से आलोक-रश्मियाँ परावर्त्तित होकर बिन्दु 'फ' पर केन्द्रित होती हैं, फिर इसके आगे एक लेन्स द्वारा ये समानान्तर रश्मियों के पुंज के रूप में परिवर्त्तित होकर आगे बढ़ती हैं। एक लम्बे फ़ासले को तय कर लेने के बाद एक दूसरे लेन्स द्वारा ये समानान्तर रश्मियाँ पुनः एक नतोदर दर्पण के धरातल पर केन्द्रित की जाती हैं। यह नतोदर दर्पण इन रश्मियों को परावर्त्तित करके उन्हें ठीक उसी पुराने मार्ग से वापस भेजता है। अतः परावर्त्तित रश्मियाँ फिर अपने उद्गम-स्थान 'प' पर पहुँच जाती हैं। इस प्रयोग में दर्पण 'द' के बीचोबीच एक सूराख़ रहता है—ताकि उस पार की रोशनी दिखलाई दे। एक दाँतदार पहिया इन रश्मियों के मार्ग में उस स्थान पर रक्खा जाता है, जहाँ 'द' से परावर्त्तित हो ये एक बिन्दु पर केन्द्रित होती हैं। यदि यह पहिया इस रफ़्तार से घुमाया जाय कि दो दाँतों के बीच की ख़ाली जगह से जो आलोक-रश्मियाँ उस नतोदर दर्पण की ओर गई हैं, वे परावर्त्तित होकर जब तक लौटें, तब तक उस ख़ाली जगह पर पहिए का एक दाँत पहुँच जाय, तो ऐसी हालत में 'द' के सूराख़ में से रोशनी बिल्कुल नहीं दिखलाई पड़ेगी। स्पष्टतः इस समय पहिया ऐसी रफ़्तार से घूम रहा है कि जितनी देर में पहिए के ख़ाली भाग की जगह पर बग़लवाला दाँत घूमकर आ जाता है, उतनी देर में आलोक-रश्मियाँ उस पहिए से चलकर नतोदर दर्पण तक जाकर वापस उसी जगह तक लौट आती हैं। यदि पहिए के दाँतों की संख्या मालूम हो तो इसके घूमने की रफ़्तार मालूम करके हम हिसाब लगा सकते हैं कि कितनी देर में पहिए का दाँत खिसक-

आलोक-रश्मि जब टूर्मलीन नामक पदार्थ के रवों (crystal) में से होकर गुज़रती है तो जिस समय रवे समानान्तर स्थिति में रहते हैं तब तो आलोक-रश्मि दूसरी ओर पहुँचती है, किन्तु दूसरा रवा जब पहले रवे से ९० अंश का कोण बनाता है तो वह दूसरे रवे को पार नहीं कर पाती। इस प्रयोग से 'पोलराइज़ेशन' का सिद्धान्त समझ में आता है।
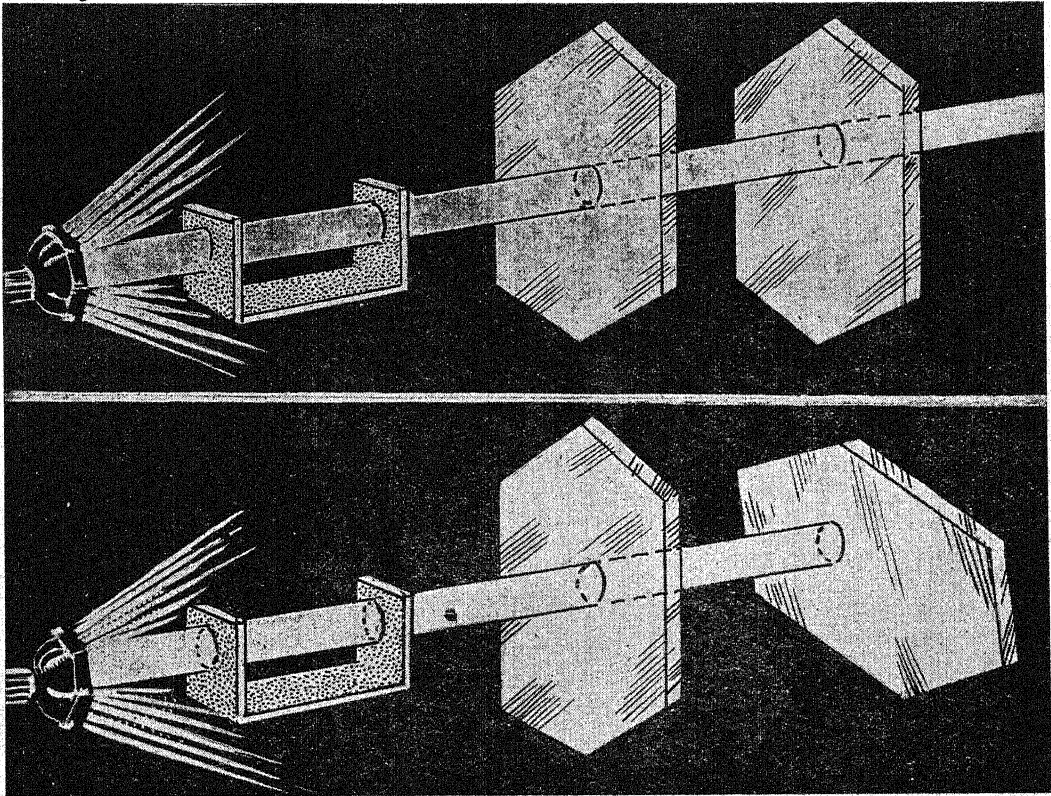
कर बग़लवाले ख़ाली भाग के स्थान पर आ जाता है। अवश्य इतनी ही देर में आलोक ने पहिए और नतोदर दर्पण के बीच की दूरी का दूना फ़ासला तय किया। अतः आसानी से इस रीति से आलोक की गति आँकी जा सकती है।

फ़िज़ो के पहिए में ७२० दाँत थे। उसने देखा कि पहिए को उसे प्रति सेकण्ड १२.६ बार घुमाना पड़ता था, तब दर्पण के सूराख़ में पहली बार अँधेरा दिखाई देता था। इस समय पहिए और नतोदर दर्पण के बीच की दूरी लगभग ५ मील थी! इस रीति से भी आलोक की गति १,८६,००० मील प्रति सेकण्ड ही निकली।

१८८० के लगभग अमेरिका के नौसेना-विभाग के एक अफ़सर एल्बर्ट माइकेल्सन ने भी आलोक की गति नापने के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए। माइकेल्सन के प्रयोग में आलोक-रश्मि को जाते समय २२ मील की दूरी तय करनी पड़ती थी और उतनी ही दूरी लौटते समय। जैसा कि पृ० २०८२ के चित्र से प्रकट है, प्रकाशोत्पादक 'प' से केन्द्रित होकर आलोक-रश्मियाँ एक पतली झिरी पर पड़ती हैं, यहाँ से ये रश्मियाँ एक घूमते हुए अठपहल दर्पण 'अ' पर पड़ती हैं। इस अठपहल दर्पण के एक दर्पण से परावर्त्तित होकर आलोक-रश्मि दो और समतल दर्पणों से परावर्त्तित होती है। तदुपरान्त नतोदर दर्पण 'न' से परावर्त्तित होकर खिड़की के रास्ते २२ मील की दूरी तय करने के लिए ये किरणें निकल जाती हैं। उस सिरे पर स्थित नतोदर दर्पण तथा समतल दर्पण 'स' से पुनः परावर्त्तित होकर ये किरणें प्रयोगशाला की मेज़ पर लौट आती हैं। पुनः ये नतोदर दर्पण 'न' तथा समतल दर्पण 'इ' और 'ज' से परावर्त्तित होकर अठपहल के एक दर्पण से परावर्त्तित हो 'द' पर पड़ती हैं। यहाँ से ये निरीक्षक की दूरबीन में प्रवेश करती हैं।

'पोलराइज़ेशन' संबंधी रस्सी और छड़ों का प्रयोग
(विवरण के लिए देखिए २०८८ पृ० का मैटर)

इस प्रयोग का सिद्धान्त समझना कुछ विशेष कठिन नहीं है। प्रयोग आरम्भ करते समय विभिन्न दर्पण तथा दूरदर्शक इस प्रकार रक्खे जाते हैं कि आलोक-रश्मि अठपहल के दर्पण नं० १ से परावर्त्तित होकर अन्य समतल तथा नतोदर दर्पणों द्वारा परावर्त्तित होती है। फिर अठपहल के दर्पण नं० ५ से परावर्त्तित होकर वह दूरबीन में पहुँचती है। इस समय अठपहल स्थिर रहता है। अब अठपहल को लम्बवत् कीली के बल पर घुमाते हैं। इस दशा में दूरस्थ दर्पण से लौटकर आने पर रश्मि को अठपहल के दर्पण अपने पूर्ववत् स्थान पर नहीं मिलेंगे। जिस समय रश्मि ने अठपहल के दर्पण नं० १ को छेदा था, उस समय की स्थिति के मुक़ाबले में अठपहल के दर्पण अब कुछ आगे घूम गए होंगे। अतः नं० ५ से परावर्त्तन होने पर रश्मि अब अपने पूर्व-मार्ग से थोड़ी विचलित हो जायगी। फलस्वरूप दूरबीन में अब यह आलोक-रश्मि न पहुँच पाएगी, क्योंकि अब 'द' से परावर्त्तन होने के बाद रश्मि दूरबीन की झिरी पर ठीक नहीं पड़ेगी। यह एक ओर को हट कर पड़ेगी। किन्तु इस प्रयोग में एक बात ध्यान देने योग्य है। यदि अठपहल की रफ़्तार इतनी तेज़ कर दी जाय कि जितनी देर में आलोक-रश्मि उस दूरस्थ दर्पण तक जाकर लौटे तब तक अठपहल का दर्पण नं० ४ आगे बढ़कर ठीक उसी स्थिति में आ जाय जिस स्थिति में नं० ५ पहले था तो ऐसी दशा में

नं० ४ से परावर्त्तित होने पर रश्मि पुनः अपने पूर्व-मार्ग का ही अनुसरण करेगी और दूरबीन के अन्दर प्रवेश करने में यह समर्थ हो सकेगी।

स्पष्ट ही है कि अठपहल को पूरा एक चक्कर लगाने में जितना समय लगता है, उसका ठीक आठवाँ भाग नं० ४ दर्पण को नं० ५ की स्थिति में आने में लगा। यह समय आसानी से मालूम किया जा सकता है। इतने ही समय में आलोक ने भी २२×२ मील का लम्बा फ़ासला तय कर लिया। अतः आलोक की गति आसानी से आँकी जा सकती है। इस प्रयोग से आलोक की गति १,८६,३२५ मील प्रति सेकण्ड निकली।

इन सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा यह भी प्रमाणित हो गया कि पानी तथा काँच अथवा अन्य किसी भी घने माध्यम में आलोक की गति हवा के अन्दर की इसकी गति से कम ही है। अतः न्यूटन तथा हॉयगेन्स दोनों के सिद्धान्त कसौटी पर कसे गए। इसके परिणामस्वरूप हॉयगेन्स का तरंगवाद खरा उतरा।

उपर्युक्त प्रमाण के अतिरिक्त अन्य प्रयोगों ने भी आलोक के तरंगवाद का ही समर्थन किया है। यदि समान लहर-लम्बाई की दो तरंगें एक ही दिशा में गमन कर रही हैं, तो किसी एक तरंग का शिखर दूसरी के शिखर पर पड़ सकता है—अतः इस ठौर माध्यम में बहुत तेज़ हरकत होगी, और यदि ये आलोक जाति की तरंगें हुईं तो इस ठौर आलोक की मात्रा भी बढ़ जायगी! या सम्भव है कि किसी स्थान पर एक तरंग का शिखर (crest) पड़े और दूसरी का कूँड़ या गड्ढा (trough)। ऐसी दशा में माध्यम के उस स्थान पर दो बराबर शक्ति की विरोधात्मक गतियाँ उत्पन्न होंगी जो एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर देंगी—उस स्थान पर माध्यम पूर्ववत् निश्चल बना रहेगा, दोनों तरंगों का सम्मिलित प्रभाव शून्य हो जायगा। किन्तु एक ही दिशा में गमन करनेवाले दो कण किसी भी स्थान पर शून्य प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते। आलोक-रश्मियाँ यदि तरंगें हैं तो अवश्य उपर्युक्त ढंग पर प्रयोग करने पर दो समान शक्ति की आलोक-तरंगों का प्रभाव किसी-किसी स्थान पर शून्य हो सकता है, अर्थात् आलोक की दो तरंगें विशेष परिस्थितियों में पूर्ण अन्धकार उत्पन्न करेंगी। एक का शिखर ठीक उसी ठौर पड़ेगा, जहाँ दूसरे का कूँड़। किंतु इसके प्रतिकूल आलोक-रश्मियाँ यदि आलोक-कणों की बनी हैं तो ये आलोक-रश्मियाँ मिलकर कभी अन्धकार उत्पन्न नहीं कर सकतीं।

प्रयोगशाला में इस ढंग के प्रयोग जब किए गए तो वास्तव में यही बात देखी गई कि पर्दे पर अकेली एक आलोक-रश्मि से सब जगह आलोक पहुँचता था, किन्तु जब दूसरी आलोक-रश्मि भी पर्दे पर भेजी गई तो पर्दे पर जहाँ-जहाँ दोनों आलोक-रश्मि की तरंगों के शिखर साथ पहुँचे वहाँ तो आलोक तेज़ हो गया, और जहाँ एक का शिखर एवं दूसरे का गड्ढा पहुँचा वहाँ पर अन्धकार हो गया। अतः उस प्रयोग ने भी आलोक को तरंगों की जाति का ही ठहराया। १८७३ में प्रो० क्लार्क मैक्सवेल ने विधिवत् सिद्धान्तों द्वारा यह साबित किया कि आलोक वास्तव में विद्युत् तथा चुम्बकीय क्षेत्रों के कम्पन से उत्पन्न हुई तरंग है। ये विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें (Electro-magnetic Waves) कहलाती हैं। १८८८ में हर्ट्ज़ ने प्रयोग द्वारा क्लार्क के इस नवीन अनुसन्धान
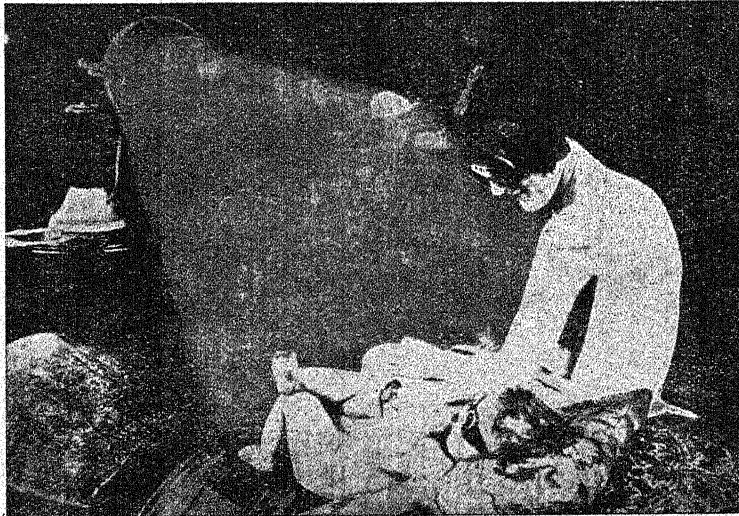
पराकासनी-रश्मियों की स्वास्थ्य-प्रदायिनी उपयोगिता के कारण ही 'मर्करी आर्क लैम्पों' द्वारा अस्पतालों में कृत्रिम धूप उत्पन्न कर इन किरणों का सेवन कराया जाता है। चित्र में बालक सहित एक स्त्री इसी विधि से कृत्रिम धूप-स्नान कर रही है।

की पुष्टि की। ये विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें 'ईथर' के माध्यम में उत्पन्न होती हैं।

इन तरंगों की लहर-लम्बाई नापने के लिए भी वैज्ञानिकों ने सूक्ष्म ढंग के प्रयोगों से काम लिया, जिनसे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आलोक-रश्मियों में रंग-भेद उनकी लहर-लम्बाई की भिन्नता के कारण है। कासनी रंग से आसमानी, फिर हरे तथा सतरंगी पट्टी के दूसरे छोर की ओर ज्यों-ज्यों हम बढ़ते हैं, आलोक-रश्मियों की लहर-लम्बाई त्यों-ही-त्यों बढ़ती जाती है। लाल रंग से आगे बढ़ने पर इन्फ्रारेड प्रदेश में जाने पर हम देखते हैं कि इन्फ्रारेड रश्मियों की लहर-लम्बाई लाल रश्मियों की लहर-लम्बाई से अधिक है। उधर दूसरे छोर पर पराकासनी प्रदेश में पराकासनी रश्मियों की लहर-लम्बाई कासनी रश्मियों की लहर लम्बाई से कम उतरती है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सतरंगी पट्टी के दोनों छोर के इधर-उधर पाई जानेवाली अदृश्य रश्मियाँ भी आलोक की जाति की ही तरंगें हैं।

इन्फ्रारेड की अदृश्य रश्मियों को हम उष्णता की तरंगें भी कह सकते हैं। ये रश्मियाँ भी दृश्य आलोक-रश्मियों की भाँति वक्र और समतल धरातल से परावर्तित तथा आवर्तित होती हैं। भट्ठी में तपा हुआ गर्म लोहे का एक गोला लीजिए। इसे एक नतोदर दर्पण के नाभिविन्दु पर रखिए। उष्णता की रश्मियाँ परावर्त्तन के उपरान्त समानान्तर रश्मिपुंज के रूप में इस दर्पण से आगे को चलेंगी। सामने यदि दूसरा नतोदर दर्पण रखा जाय तो ये समानान्तर रश्मियाँ पुनः इस द्वितीय दर्पण के नाभिविन्दु पर केन्द्रित हो जायँगी। इस विन्दु पर रुई या तिनका रखिए तो वह तुरन्त जल उठेगा।

पराकासनी-रश्मियों के गुणों का उपयोग आधुनिक विज्ञान ने एक बड़े पैमाने पर किया है। डॉक्टर बतलाते हैं कि पराकासनी-रश्मियों का प्रभाव हमारे शरीर पर अत्यन्त स्वास्थ्यकर होता है। अतः ऐसे रोगी जिनका स्वास्थ्य गिर गया होता है, पराकासनी-रश्मियों का सेवन करते हैं। किन्तु साधारण धूप में बैठने पर आपके शरीर तक पराकासनी-रश्मियाँ अधिक मात्रा में नहीं पहुँच पाएँगी। कारण यह है कि ये रश्मियाँ आकाश के धूलि-कणों तथा जलवाष्प और बादलों में ही अधिकांश विलीन हो जाती हैं। अतः पर्वत के शिखर पर या समुद्र-तट पर, जहाँ आकाश बिलकुल निर्मल हो, लोग पराकासनी-रश्मियों का सेवन करने के लिए जाते हैं। पतले से पतला कपड़ा भी इन रश्मियों को आपकी त्वचा तक नहीं पहुँचने देता, इसलिए नंगे बदन सूर्य की धूप में बैठने पर ही पराकासनी-रश्मियों से आप लाभ उठा सकते हैं। शरीर पर तेल आदि की चिकनाहट यदि मौजूद हुई तो भी इन रश्मियों के सेवन में आपको बाधा पहुँचेगी, अतः पराकासनी रश्मियों का सेवन करने के पूर्व अच्छी तरह नहा-धो लेना चाहिए। पराकासनी-रश्मियों की स्वास्थ्य-दायिनी उपयोगिता के कारण पारे के आर्क-लैम्प (Mercury Arc Lamp) बनाये गए हैं, जिनके आलोक में पराकासनी-रश्मियों की मात्रा प्रतिशत अत्यधिक रहती है। रात के अँधेरे में या जिस समय आसमान में बादल घिरे हों, अस्पताल के अन्दर ही रोगी को प्रचुर मात्रा में ऐसे लैम्प से पराकासनी-रश्मियाँ मिल सकती हैं। पाश्चात्य देशों के लगभग सभी अस्पतालों में पारे के ये आर्क लैम्प लगे हुए हैं।

(ऊपर) साधारण रश्मियों द्वारा लिया गया फोटो। (नीचे) उसी दृश्य का इन्फ्रारेड रश्मियों द्वारा लिया गया फोटो। अंतर पर ध्यान दीजिए।

कुछ कीटाणु आकार में इतने छोटे होते हैं कि वे बढ़िया से बढ़िया सूक्ष्मदर्शक यंत्र से भी नहीं देखे जा सकते। भौतिक विज्ञान के नियमों के अनुसार अत्यंत

शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शकों से भी हम उन पदार्थों को नहीं देख सकते जिनका आकार आलोक-तरंगों की लहर-लम्बाई से कम हो। उपर्युक्त कीटाणु दृश्य आलोक की लहर-लम्बाई से भी छोटे होते हैं। हाँ, यदि दृश्य आलोक के स्थान पर पराकासनी-रश्मियाँ उन कीटाणुओं पर डाली जायँ और तब हम उन्हें सूक्ष्मदर्शक के तले ले आएँ तो अवश्य वे हमें दृष्टि-गोचर हो जायँगे, क्योंकि पराकासनी रश्मियों की लहर-लम्बाई इन कीटाणुओं के आकार से भी छोटी होती हैं। अतः आजकल सभी जीव-विज्ञानी कीटाणु-सम्बन्धी प्रयोगों में पराकासनी रश्मिवाले सूक्ष्मदर्शकों का ही प्रयोग करते हैं। अवश्य ही ऐसे सूक्ष्मदर्शक में हमारी आँखों को ये कीटाणु न दिखलाई देंगे, क्योंकि पराकासनी-रश्मियाँ हमारी आँखों को प्रभावित कर ही नहीं सकतीं। आँख के स्थान पर ऐसे सूक्ष्म-दर्शक में फ़ोटो की प्लेट लगाते हैं। इसी प्लेट पर कीटाणु का परिवर्द्धित चित्र अंकित हो जाता है, जिसका अध्ययन वैज्ञानिक निश्चिन्ततापूर्वक सूक्ष्म रूप से कर सकता है। पराकासनी रश्मिवाले सूक्ष्म-दर्शकों में साधारण काँच के लेन्स काम में नहीं लाए जा सकते, क्योंकि ये पराकासनी-रश्मियों के लिए पारदर्शक नहीं हैं। साधारण काँच के स्थान पर स्फटिक काँच के लेन्स इन सूक्ष्मदर्शकों में लगाए जाते हैं।

स्फटिक काँच के लेन्सों से युक्त फ़ोटो लेने के यंत्र भी पराकासनी-रश्मि का चित्र लेने के लिए काम में लाए जाते हैं। पराकासनी-रश्मियों से पुराने रंगीन अथवा सादे चित्रों को आलोकित करके इन्हीं यंत्रों से उनका फ़ोटो लिया जाता है। पराकासनी-रश्मियों की सहायता से लिया गया फ़ोटो साधारण फ़ोटो से प्रायः भिन्न होता है। चित्र की अनेक बातें जो दृश्य आलोक में दृष्टिगोचर नहीं होतीं, वे पराकासनी-रश्मि के फ़ोटो में साफ़ उभर आती हैं। इस विधि से कितने ही प्राचीन चित्रों के नक़ल की जालसाज़ियाँ पकड़ी गई हैं। पासपोर्ट और चेक की अनेक जालसाज़ियाँ भी पराकासनी - रश्मियोंवाले फ़ोटो से पकड़ी जा चुकी हैं।

ऊपर के चित्र में पोलरायड के लैम्पवाली एक मोटर दिखाई दे रही है। नीचे बिना पोलरायड के साधारण शीशे वाले लैम्प से युक्त मोटरकार का फ़ोटो है। चकाचौंध में अंतर देखिए।

इन्फ्रारेड राश्मियों में पराकासनी रश्मियों का विपरीत गुण मौजूद है। धूलिकणों या जलवाष्प-कणों में इन्फ्रारेड किरणें विलीन नहीं होतीं, इन्हें भेद-कर ये आसानी से आर-पार चली जाती हैं। बीसियों मील की दूरी पर स्थित पहाड़ की चोटियाँ कुहरे और ग़र्द-गुबार के कारण दिन के समय भी हमें दिखलाई नहीं देतीं, क्योंकि दृश्य आलोक उन धूलि-कणों से टकराकर इधर - उधर बिखर जाता है और हमारी आँखों तक पहुँच नहीं पाता। पर्वत-चोटी से चली हुई इन्फ्रारेड रश्मियाँ रास्ते में बिना बिखरे हुए कुहरे आदि को भेदकर हम तक सीधी पहुँच जाती हैं, केवल हमारी आँखों को ये प्रभावित करने में समर्थ नहीं हो पातीं। अतः इन किरणों को ग्रहण करने के लिए विशेष प्रकार की फ़ोटो की प्लेटें बनाई गई हैं, ताकि कुहरे और गर्द-गुबार के समय भी दूर की चीज़ों का स्पष्ट फ़ोटो लिया जा सके। इन्फ्रारेड रश्मिवाले

केमरे में भी साधारण काँच के लेन्स नहीं लगाते, इनके स्थान पर खनिज नमक (rock salt) के बने लेन्स का प्रयोग किया जाता है। खनिज नमक के लेन्स इन्फ्रा-रेड रश्मियों के लिए पारदर्शक होते हैं। दूरस्थ वस्तुओं का फ़ोटो लेते समय केमरे में दूरदर्शक यंत्र सरीखा एक साधन लगाना पड़ता है। इसे टेलीफ़ोटो लेन्स कहते हैं। ऐसा करने से दूरदर्शक यंत्र की तरह दूर की वस्तुएँ निकट प्रतीत होने लगती हैं।

आलोक-रश्मियों का एक और गुण उल्लेखनीय है। आलोक की तरंगे ईथर के अन्दर उसके कणों में कम्पन उत्पन्न करती हैं। तरंग जिस दिशा में अग्रसर होती है, उसकी आड़ी दिशा में कणों का कम्पन होता है। किन्तु तरंग जिस ओर को बढ़ती है, उससे समकोण बनाती हुई अनगिनत दिशाएँ हो सकती हैं, अतः ईथर के कण इनमें से किसी भी दिशा में कम्पन कर सकते हैं। ऐसी तरंगें, जिनमें माध्यम के कणों का कम्पन तरंग के विस्तार की दिशा के समकोण पर होता है, अनुप्रस्थ (Transverse) तरंगें कहलाती हैं। प्रयोगों द्वारा आलोक-तरंगों के कम्पन को हम किसी भी एक धरातल में सीमित कर सकते हैं। इस क्रिया को 'पोलराइज़ेशन' (Polarization) कहते हैं।

समझने के लिए एक मनोरंजक प्रयोग का वर्णन करना अनुचित न होगा। दीवाल की कील में रस्सी का एक छोर बाँध दीजिए और दूसरा छोर अपने हाथ में रखिए। कुछ दूरी पर खड़े होकर आप रस्सी को ऊपर-नीचे एकाध बार झटका दीजिए, रस्सी में अनुप्रस्थ तरंगें उत्पन्न हो जायँगी। रस्सी के कणों का कम्पन ऊपर-नीचे हो रहा है। इसके प्रतिकूल यदि रस्सी में आप दाहिने-बायें झटका दें तो इस दशा में भी रस्सी में अनुप्रस्थ तरंगें उत्पन्न होंगी, किन्तु इस बार कम्पन ऊपर-नीचे न होकर दाहिने-बायें पृथ्वी के समानान्तर धरातल में होगा। इस रस्सी को यदि एक खिड़की में से होकर गुज़रना हो तो खिड़की में लगे हुए छड़ों की स्थिति के अनुसार रस्सी के कम्पन की तरंग भी उनके बीच में से होकर गुज़र सकेगी। मान लीजिए कि खिड़की के छड़ ऊपर से नीचे को सीधे खड़े हैं। ऐसी दशा में रस्सी में जब कम्पन ऊपर से नीचे को हो रहा है तभी यह कम्पन खिड़की को पारकर आगे बढ़ सकेगा। इस खिड़की के बाद यदि दूसरी खिड़की रास्ते में रख दी जाय तो रस्सी की तरंगें इस खिड़की को भी पारकर आगे उस दशा में ही बढ़ सकेंगी जबकि इस खिड़की के छड़ भी ऊपर से नीचे को खड़े हों। यदि दूसरी खिड़की को ९० अंश के कोण में घुमा दिया जाय तो इसके छड़ आड़े अर्थात् पृथ्वी के समानान्तर हो जायँगे। ऐसी दशा में रस्सी की कम्पन अब इस द्वितीय खिड़की में से होकर आगे ज़रा भी नहीं बढ़ सकती (दे० पृ० २०८४ का चित्र)।

आलोक-तरंगों के लिए टूर्मलीन (tourmaline) के रवे ठीक इन्हीं खिड़कियों जैसा काम करते हैं। टूर्मलीन के एक रवे में से गुज़रने पर आलोक-तरंगों का कम्पन एक विशिष्ट धरातल में ही सीमित हो जाता है, क्योंकि टूर्मलीन के रवे में से होकर केवल एक धरातल के कम्पन गुज़रने पाते हैं, अन्य दिशाओं में होनेवाले कम्पन रवे में ही विलीन हो जाते हैं। इस पोलराइज़्ड (polarized) आलोक को जब हम द्वितीय टूर्मलीन के रवे में से गुज़रने देते हैं तब हम देखते हैं कि जिस समय दोनों रवे समानान्तर स्थिति में रहते हैं उस समय तो आलोक-रश्मि दूसरी तरफ़ पहुँच पाती है, किन्तु दूसरा रवा पहले रवे से जब ९० अंश का कोण बनाता है, तब आलोक-रश्मि दूसरी तरफ़ बिल्कुल नहीं पहुँच पाती दे० पृ० २०८३ का चित्र)।

पराकासनी तथा इन्फ्रारेड की अदृश्य रश्मियों में भी दृश्य आलोक की ही भाँति पोलराइज़ेशन (Polarization) के गुण मौजूद हैं। प्रथम टूर्मलीन से गुज़रने पर इन्फ्रारेड रश्मियाँ थर्मामीटर को कम गर्म कर पाती हैं, क्योंकि टूर्मलीन से गुज़रने पर इस रश्मि के अन्य कम्पन मिट जाते हैं, केवल एक दिशा में होनेवाले कम्पन टूर्मलीन को पार कर पाते हैं। द्वितीय टूर्मलीन को पहले के ९० डिग्री पर रखने पर इन्फ्रारेड इस टूर्मलीन में एकदम विलीन हो जाती है और अब थर्मामीटर पर कुछ भी असर नहीं पड़ता। द्वितीय टूर्मलीन को पुनः प्रथम टूर्मलीन के समानान्तर कर देने पर इन्फ्रारेड-रश्मि दोनों टूर्मलीनों को पारकर फिर थर्मामीटर को प्रभावित कर देती है।

पोलराइज़्ड आलोक का प्रयोग अब हमारे दैनिक जीवन में भी किया जाने लगा है। सेलूलायड की जाति का एक पदार्थ तैयार किया गया है जो सेलूलायड की तरह ही पारदर्शक होता है, किन्तु जिसका रंग अपेक्षाकृत गहरा होता है। इसे 'पोलरायड' के नाम से पुकारते हैं। पोलरायड के अन्दर आलोक-रश्मि को 'पोलराइज़' करने की क्षमता होती है। केवल विशेष दिशा में कम्पन करने-वाली आलोक-तरंगें इसमें से होकर गुज़र सकती हैं। नए ढंग के होटल के कमरों में खिड़कियों और रोशनदानों में काँच की जगह पोलरायड के दुहरे पर्दे लगे रहते हैं। इन पर्दों को एक दूसरे के लिहाज़ से घुमाने पर कमरे के

अन्दर बाहर से आलोक कम या अधिक मात्रा में पहुँचाया जा सकता है। जिस समय दोनों पर्दों के अणुओं की दिशा एक दूसरे के समानान्तर रहती है, दोनों को पार कर कमरे के अन्दर काफ़ी रोशनी पहुँचती है। किन्तु इनमें से एक पर्दे को यदि घुमाया जाय तो इनमें से होकर गुज़रनेवाले आलोक की मात्रा भी घटती जाती है, यहाँ तक कि जब दोनों पर्दे एक दूसरे के साथ ९० अंश का कोण बनाते हैं, उस समय कमरे के अन्दर उनमें से छनकर ज़रा भी रोशनी नहीं पहुँचने पाती।

मोटरकार के लैम्प की चकाचौंध कम करने के लिए उसके आगे लैम्प में शीशे की जगह पोलरायड का प्रयोग करते हैं, साथ ही गाड़ी में ड्राइवर के सामने लगे हुए काँच के पर्दे की जगह भी पोलरायड ही लगाते हैं। ऐसा करने से सड़क पर चकाचौंध के कारण दुर्घटना नहीं होने पाती, क्योंकि पोलरायड में से होकर इधर-उधर की आलोक-रश्मियाँ गुज़र नहीं पातीं (दे० पृ० २०८७ का चित्र)। पोलराइज़्ड रश्मियों की मदद से काँच के बर्त्तन की परीक्षा की जा सकती है कि आया उसके सभी भाग समान रूप से ठण्डे हुए या नहीं। यदि बर्त्तन की दीवालों में अन्दर ही अन्दर कुछ बल हुआ तो वह हमें साधारण तौर से देखने पर न दिखलाई देगा। किन्तु परस्पर समकोण दिशा पर रखे हुए दो पोलरायड के पर्दे में से देखने पर बर्त्तन की दीवालों में काली धारियाँ दिखलाई पड़ेंगी। ऊँचे दर्जे के केमरे में लेन्स के सामने पोलरायड का एक हलका-सा पर्दा लगा देते हैं, ताकि जिस वस्तु का फ़ोटो लेना है, उसके आस-पास से व्यर्थ की चकाचौंध पैदा करनेवाला आलोक लेन्स तक पहुँचने न पाए। ऐसे केमरे से लिये गए फ़ोटो में प्रत्येक सूक्ष्म विवरण पूर्णतया स्पष्ट उभरता है।

एक्स-रे द्वारा लिया गया मनुष्य के हाथ का एक चित्र
यह किरणें हमें चर्म-चक्षुओं से तो नहीं दिखाई देतीं, पर उनका पता फ़ोटो-प्लेट पर उनके प्रभाव से निश्चित् रूप से लग जाता है। देखिए, हाथ के मांस-रुधिर और ऊपरी आवरण को भेदकर केवल हड्डियों का ही चित्र उभर आया है।

पोलरायड की ही बदौलत तथाकथित 'ठोस' चित्रपटों का बनना सम्भव हो सका है। ऐसे चित्रपट के लिए दुहरे लेन्स वाले केमरे काम में लाये जाते हैं। मनुष्य की दो आँखों की भाँति ये दोनों लेन्स उसी दृश्य के दो विभिन्न फ़ोटो एक ही साथ लेते हैं। इस प्रकार दो फ़िल्म उसी दृश्य की तैयार कर ली जाती हैं, जो विभिन्न दृष्टिकोण से ली गई होती है।

सिनेमा-हाल में दो प्रोजेक्टर मशीनों में इन दोनों फ़िल्मों को लगा कर पर्दे पर चित्र इस प्रकार फेंकते हैं कि दोनों ठीक एक दूसरे के ऊपर पड़ें। दोनों प्रोजेक्टर के लेन्सों के सामने एक-एक पोलरायड रख देते हैं। इन पोलरायडों की दिशा एक-दूसरे के साथ समकोण बनाती है। अतः बायें प्रोजेक्टर के दृश्य में आलोक का कम्पन जिस दिशा में होता है दाहिने प्रोजेक्टर के चित्र में उस दिशा के साथ ९० अंश का कोण बनानेवाली दिशा में कम्पन होता है। दर्शकगण पोलरायड के बने चश्मे आँखों पर चढ़ाकर पर्दे की ओर देखते हैं। बाईं आँख के पोलरायड का झुकाव बायें प्रोजेक्टर के पोलरायड के झुकाव के समानान्तर होता है, और इसी प्रकार दाहिनी आँख के पोलरायड का झुकाव दाहिने प्रोजेक्टर के पोलरायड के झुकाव के समानान्तर होता है। अतः दर्शक की प्रत्येक आँख उन दो चित्रों में से केवल एक चित्र देखती है, और उसे दृश्य में लंबाई-चौड़ाई के साथ ही मुटाई का भी भान हो जाता है।

विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें (Electro-magnetic Waves) का सिलसिला इन्फ्रारेड तथा पराकासनी दोनों ओर बहुत दूर तक जारी है। इन्फ्रारेड से आगे बढ़ने पर इन तरंगों की लहर-लम्बाई और भी अधिक बढ़ जाती है, यहाँ तक कि हम रेडियो-तरंगों तक पहुँच जाते हैं। इन तरंगों में कुछ की लहर-लम्बाई तो २० मील या कभी-कभी २००० मील तक भी पहुँचती है! पराकासनी रश्मियों की ओर बढ़ने पर इन तरंगों की लहर-लम्बाई निरन्तर कम होती जाती है। पहले सुदूर पराकासनी रश्मियाँ मिलती हैं, फिर और आगे बढ़ने पर हमें 'एक्स-रे' मिलती हैं। ये भी ठीक आलोक और उष्णता की जाति की तरंगें

हैं। इनकी लहर-लम्बाई दृश्य आलोक की लहर-लम्बाई की १/१००० होती है।

किन्तु इन विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की सूक्ष्मता यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। एक्स-रे से भी और आगे बढ़ने पर रेडियम से निकलनेवाली तीव्रतर 'गामा-किरणें' मिलती हैं। इनकी भेदनशक्ति एक्स-रे के मुक़ाबले में कहीं अधिक होती है। थोड़ी देर तक भी यदि गामा-किरणें त्वचा पर पड़ें तो फ़ौरन् गहरे घाव पड़ जाते हैं। एक्स-रे की भाँति गामा-किरणों का भी प्रयोग चिकित्सा-विज्ञान में अब प्रचुरता से किया जाने लगा है। शब्द-तरंगों की भाँति आलोक-तरंगों को भी उनकी लहर-लम्बाई के अनुसार सप्तकों में बाँटते हैं। किसी विशेष लहर-लम्बाई से लेकर उसकी दूनी लहर-लम्बाई तक की तरंग एक सप्तक में आती हैं। इस हिसाब से हम देखते हैं कि दृश्य आलोक केवल एक सप्तक तक फैला है। इन्फ्रारेड आलोक का क्षेत्र लगभग ९ सप्तकों तक है, हर्ट्ज़ियन तरंगों का २८ सप्तक तक, रेडियो-तरंगों का ११ सप्तक तक, पराकासनी का ५ सप्तक तक और एक्स-रे का १४ सप्तक तक है।

हज़ारों मील की दूरी से बेतार के संवाद भेजने के कार्य में विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों का प्रयोग। एक जहाज़ का वायरलेस-ऑपरेटर अपनी बेतार की बर्की खटखटा रहा है।

आलोक की जाति की रश्मियों की विभिन्नता देखकर एक वैज्ञानिक ने एक बार कहा था कि "प्रकाश के अथाह सागर में हम अन्धे के सदृश हैं"। उसकी इस धारणा में सत्य का अंश कम नहीं है। गामा-किरणों से लेकर दूसरे छोर की रेडियो-तरंगों तक विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की लम्बी शृंखला मौजूद है, किन्तु हमारी आँखों को इस शृंखला की एक नन्हीं-सी कड़ी भर दिखलाई पड़ती है। अन्य किरणें हमारे दृष्टिपटल पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल पातीं।

विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की विभिन्नता उनकी लहर-लम्बाई के अन्तर के कारण है। इसी कारण रेडियो-तरंगों को हम अपनी आँखों के दृष्टि-ज्ञान की सहायता से मालूम नहीं कर सकते हैं, इसका पता लगाने के लिए हमें विद्युत्-डिटेक्टर (detector) यंत्र का प्रयोग करना पड़ता है। पराकासनी किरणें हमें दिखलाई नहीं देतीं किन्तु फोटोग्राफ़ी की प्लेट को वे प्रभावित कर सकती हैं। इन्फ्रारेड रश्मियाँ केवल थर्मामीटर को प्रभावित कर सकती हैं। एक्स-रे वैसे हमें नहीं दीखतीं, किन्तु काँच तथा अन्य पदार्थ उसके स्पर्श से चमकने लगते हैं। गामा-किरणें भी अदृश्य होती हैं, किन्तु हमारी त्वचा को ये क्षण भर में ही जला डालती हैं। फिर विभिन्न गुणोंवाली ये तरंगें क्यों एक ही जाति (विद्युत्-चुम्बकीय) में रखी गई हैं? इसका कारण यह है कि कतिपय बाह्य गुणों की विभिन्नता को छोड़ उनके अनेक आभ्यन्तरिक गुण बिल्कुल एक सरीखे हैं; जैसे, सभी विद्युत् कणों की गति से उत्पन्न होती है, सभी बिना किसी भौतिक माध्यम के वैकुअम में भी गमन कर सकती हैं, और उन सब की गति प्रति सेकण्ड १,८६,३०० हैं।

विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की एक और विशेषता की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। विभिन्न लहर-लम्बाई की तरंगें विभिन्न आकार के पैकेट या 'क्वान्टम' (quantum) के रूप में गमन करती हैं। सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक मैक्स प्लैङ्क ने विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुसन्धान कर आलोक के 'क्वान्टम-वाद' का निर्माण किया है, जिससे अनेक गूढ़तम गुत्थियाँ सुलझ गई हैं, जो न तो न्यूटन के सिद्धान्त से समझ में आती थीं, और न तरंगवाद से ही। इस महत्त्वपूर्ण अनुसंधान के विषय में विशेष रूप से आप आगे चलकर जानकारी पा सकेंगे।

गंधक

गंधकाम्ल, कठोर रबड़, बारूद, दियासलाई, आदि महत्वपूर्ण वस्तुओं के निर्माण में काम में आनेवाले मूलतत्त्व और उसके कुछ गंधयुक्त यौगिकों का वर्णन

हमारे पाठकगण गंधक से अवश्य ही परिचित होंगे। उसे जलाकर दूषित वायु का शोधन बहुधा किया जाता है। वैसे तो गंधक में कोई गंध नहीं होती, किंतु जब वह जलता है तो उसमें कैसी तीखी गंध निकलती है! इसी तीक्ष्ण गंध का अनुभव आपने दियासलाई जलाते समय भी किया होगा, क्योंकि दियासलाई बनाने में भी वह काम में आता है। इस तत्त्व का नाम 'गंधक' इसी गन्ध के कारण पड़ा होगा। खुजली आदि त्वचा के रोगों में काम में आनेवाले गंधक के मरहमों से भी आप परिचित होंगे। इन के निर्माण में गंधक की रज का व्यवहार होता है। रक्तशोधक दवाओं को बनाने में भी उसका उपयोग होता है। कीड़ों, कीटाणुओं, और फफूँद (Fungi) आदि को मारने में भी वह काम में लाया जाता है। अंगूर की लताओं पर गंधक-रज का छिड़काव इसी हानिकारक फफूँद को नष्ट करने अथवा उसकी उत्पत्ति को रोकने के लिए किया जाता है। गंधक का तेज़ाब, वल्कनाइट (गंधकित रबड़), सल्फ़र डाइऑक्साइड गैस, बारूद, कार्बन डाइसल्फ़ाइड, रंग, आदि अनेक महत्वपूर्ण पदार्थों के निर्माण में उसका उपयोग बृहद् परिमाणों में होता है। पिछले महायुद्ध में मस्टर्ड गैस बनाने के लिए गंधक की बड़ी माँग थी। संसार में प्रतिवर्ष २५ लाख टन से भी अधिक गन्धक ख़र्च होता है। इस उपयोगी तत्त्व से परिचित होने तथा उसका व्यवहार करनेवाले सर्वप्रथम भारतीय ही थे। ईसा से कम से कम १००० वर्ष पूर्व तो उन्हें उसका परिज्ञान था ही! वे उस समय यह भी जानते थे कि गन्धक के संयोग से ताँबा नष्ट हो जाता है। इसी गुण के आधार पर उन पुरातन भारतीयों ने उसका नाम 'शुल्वारि' (ताँबे का शत्रु) रक्खा था। अंग्रेज़ी नाम 'सल्फ़र' की व्युत्पत्ति 'शुल्वारि' से हुई है। गन्धक

गंधक के चार प्रधान रूप
गंधक-रज में पहले रूप के साथ-साथ अल्पांश में एक सफ़ेद अमणिभीय गंधक (चौथा रूप) मिला रहता है।

का मूलतत्त्व होना लवायशिये ने १७७७ ई० में सिद्ध किया था। यह महत्वपूर्ण तत्त्व हमें कहाँ से और किस प्रकार मिलता है और उसमें क्या-क्या गुण होते हैं, इन सब बातों की जानकारी हमारे लिए अवश्य ही मनोरंजन की सामग्री होगी।

प्राप्ति-स्थान

प्रकृति में गन्धक मुक्त और संयुक्त दोनों अवस्थाओं में मिलता है। मुक्तावस्था में वह सिसिली और जापान के ज्वालामुखी प्रदेशों में, तथा अमेरिका में लुइसिआना और टेक्साज़ के भौगर्भिक निक्षेपों में पाया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक लगभग सभी गन्धक सिसिली और जापान से आता था। सन् १९०३ में अमेरिकन इंजीनियर हेनरी फ्रैश ने भौगर्भिक निक्षेपों से गन्धक निकालने की एक बड़ी ही चतुर विधि का आविष्कार कर डाला। यह विधि इतनी सस्ती प्रमाणित हुई कि बाद में अमेरिका संसार के गन्धक की आवश्यकता की ८० प्रतिशत पूर्त्ति करने लगा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि केवल लुइसिआना के निक्षेपों में ही लगभग चार करोड़ टन गन्धक भरा हुआ है, अतएव कम से कम एक सौ वर्ष तक उसके समाप्त होने की कोई संभावना नहीं। कुछ वर्ष हुए अमेरिका के अलास्का देश में भी गन्धक के बहुत बड़े निक्षेपों का पता लगा है, परन्तु उनसे अभी गन्धक निकाला नहीं जाता।

संयुक्तावस्था में वह मुख्यतः सल्फ़ाइडों के रूप में खानों में मिलता है। इन सल्फ़ाइडों में आयरन पाइराइट्स (लोहे की सल्फ़ाइड), कापर पाइराइट्स (ताँबे व लोहे की सल्फ़ाइड), गैलना (सीसे की सल्फ़ाइड), ज़िङ्क ब्लेण्ड (जस्ते की सल्फ़ाइड), मंसिल और हरताल (आर्सनिक की सल्फ़ाइडें), और रक्तहिंगुल (पारा की सल्फ़ाइड) मुख्य हैं। सल्फ़ेटों के रूप में गंधक जिप्सम (सिलखड़ी, कैल्शियम सल्फ़ेट), हेवी स्पार (बेरियम सल्फ़ेट), और कीसराइट (मैग्नेशियम सल्फ़ेट) नामक खनिजों में मुख्यतः मिलता है। इसके अतिरिक्त वह प्याज़, लहसुन, सरसों, गाजर, बाल, अंडा, अनेक तेलों तथा प्रोटीडों आदि जीव-पदार्थों में भी रहता है। अंडों के साथ प्रयुक्त होनेवाली चम्मचों को काली पड़ जाते हुए हमारे कुछ पाठकों ने देखा होगा। यह गंधक के ही कारण होता है, जिसके संयोग से चाँदी सिल्वर सल्फ़ाइड नामक एक काले यौगिक में परिणत हो जाती है। रबड़ के संसर्ग में चाँदी के सिक्के भी इसी कारण काले पड़ जाते हैं।

भारतवर्ष में भी गंधक बलूचिस्तान के कलात राज्य, काँगड़ा, पंजाब के ज्वालामुखी और बंगाल की खाड़ी के ऊसर द्वीप में मिलता है। आसाम, बिहार और उड़ीसा में लोहे की पाइराइट्स मिलती हैं। पत्थर के कोयले में भी कुछ न कुछ गंधक प्रायः लोहे की पाइराइट्स के रूप में अवश्य मिला रहता है। जब यह कोयला जलता है तो उसमें से गंधक हाइड्रोजन सल्फ़ाइड के रूप में निकलता है। अँगीठियों में जब पत्थर का कोयला जलता है तो कभी-कभी हमें हाइड्रोजन सल्फ़ाइड गैस की गंध मिलती है। अशुद्ध कोल-गैस और कोयले की खानों की गैसों में भी हाइड्रोजन सल्फ़ाइड इसीलिए रहती है। कोयले की खानों में इस गैस को 'स्टिङ्कडैम्प' कहते हैं। यदि कोयले में गंधक अधिक मिला रहता है तो वह बॉयलर और उसकी भट्ठी की छड़ों को नष्ट कर डालता है। इसी कारण खानों में जो आयरन पाइराइट्स के टुकड़े बहुधा भिदे हुए मिलते हैं और पीतल सरीखे दिखाई देते हैं, वे कोयले से अलग कर दिए जाते हैं।

निकालने की विधियाँ

(१) फ्रैश की विधि—लुइसियाना और टेक्साज़ में गंधक का स्तर मिट्टी, बालू और पत्थर के स्तरों के नीचे धरातल से लगभग १००० फ़ीट की गहराई में रहता है। बालू के कारण गंधक निकालने के लिए साधारण उपाय काम में नहीं लाये जा सकते। फ्रैश की विधि में ऊपर से गंधक की तह तक लगभग एक फ़ुट व्यास की बोरिंग कर दी जाती है, और उसमें चार एककेन्द्रक नल सला दिए जाते हैं। बाहरी दो नलों के वलयाकार मार्गों से १७०°C तक गर्म किया हुआ बेहद गरम पानी पंप द्वारा नीचे भेजा जाता है। इसके द्वारा गन्धक पिघलता रहता है और तरल गन्धक और पानी कुंड रूप में नीचे इकट्ठा होता रहता है। सबसे भीतरी नल से होकर संकुचित हवा नीचे भेजी जाती है। इस हवा के दबाव के कारण तीसरे नल से गन्धक, पानी और हवा का मिश्रण ऊपर चढ़कर बाहर निकलने लगता है। यह गन्धक लकड़ी की दीवालों से घिरे हुए बड़े-बड़े बाड़ों में भरकर इकट्ठा कर लिया जाता है। प्रत्येक बाड़ा लगभग २५० फ़ीट लंबा, १५० फ़ीट चौड़ा और ६० फ़ीट ऊँचा होता है। ठंडा होने पर यह गन्धक ठोस हो जाता है, और इस प्रकार गन्धक की एक पहाड़ी-सी खड़ी हो जाती है। अंत में लकड़ी की दीवालें तोड़ दी जाती हैं, और गन्धक तोड़-तोड़कर बाहर भेज दिया जाता है। यह गन्धक ९९·५ प्रतिशत शुद्ध

होता है, अतएव प्रायः उसके शोधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। संयुक्त राज्य के गन्धक प्रदेशों में इस प्रकार के अनेकों गन्धक के कुएँ बने हुए हैं और एक-एक कुएँ से लगभग पाँच सौ टन गन्धक प्रति दिन निकला करता है।

(२) **सिलीलियन विधि**—ज्वालामुखी प्रदेशों का गन्धक चूने के पत्थर, सिलखड़ी, तथा अन्य अप-पदार्थों से मिला हुआ पाया जाता है। इस प्राकृतिक अशुद्ध खनिज में केवल १५ से २५ प्रतिशत तक ही गन्धक रहता है। इससे गन्धक निकालने के लिए ढालू फ़र्श पर एक गोल भट्टा बनाया जाता है। इस भट्टे में खनिज के टुकड़े ऊर्ध्वाधर वायुमार्गों को छोड़ते हुए भर दिए जाते हैं। सबसे बड़े टुकड़े नीचे और छोटे ऊपर रक्खे जाते हैं, और फिर पूरी राशि जले अथवा चूर्ण किए हुए खनिज से ढक दिया जाता है। इसके बाद इस राशि में जलती हुई लकड़ी द्वारा ऊपर से आग लगा दी जाती है। इस प्रकार खनिज का कुछ गन्धक जलकर ईंधन का काम करने लगता है, और शेष पिघल-पिघलकर नीचे ढालू फ़र्श पर इकट्ठा होने लगता है। यहाँ से उसे निकालकर लकड़ी के संदूकों में भर लिया जाता है। लगभग पाँच दिन में राशि का गन्धक समाप्त हो जाता है और उसका बाहर आना बन्द हो जाता है। इस विधि के सिसिली में उपयुक्त होने के कारण इसे 'सिसीलियन विधि' कहते हैं। इसमें लगभग ३५% गन्धक जलकर नष्ट हो जाता है। लेकिन वास्तव में हम इसे अपव्यय नहीं कह सकते, कारण इटली में कोयले के न पाये जाने के कारण वह गन्धक से भी अधिक मँहगा पड़ता है। सन् १८८० में रॉबर्ट गिल ने इन भट्टों द्वारा गन्धक निकालने का एक उत्कृष्टतर उपाय ढूँढ़ निकाला। उन्होंने छः भट्टों को परिधि में रखकर जलते हुए भट्टे की तप्त गैसों को आगेवाले भट्टों में प्रवाहित करने का प्रबन्ध कर दिया। इस प्रकार गिल की विधि में ताप का अपव्यय न होने के कारण केवल २० से २५ प्रति-

अमेरिका का गंधक का कुआँ
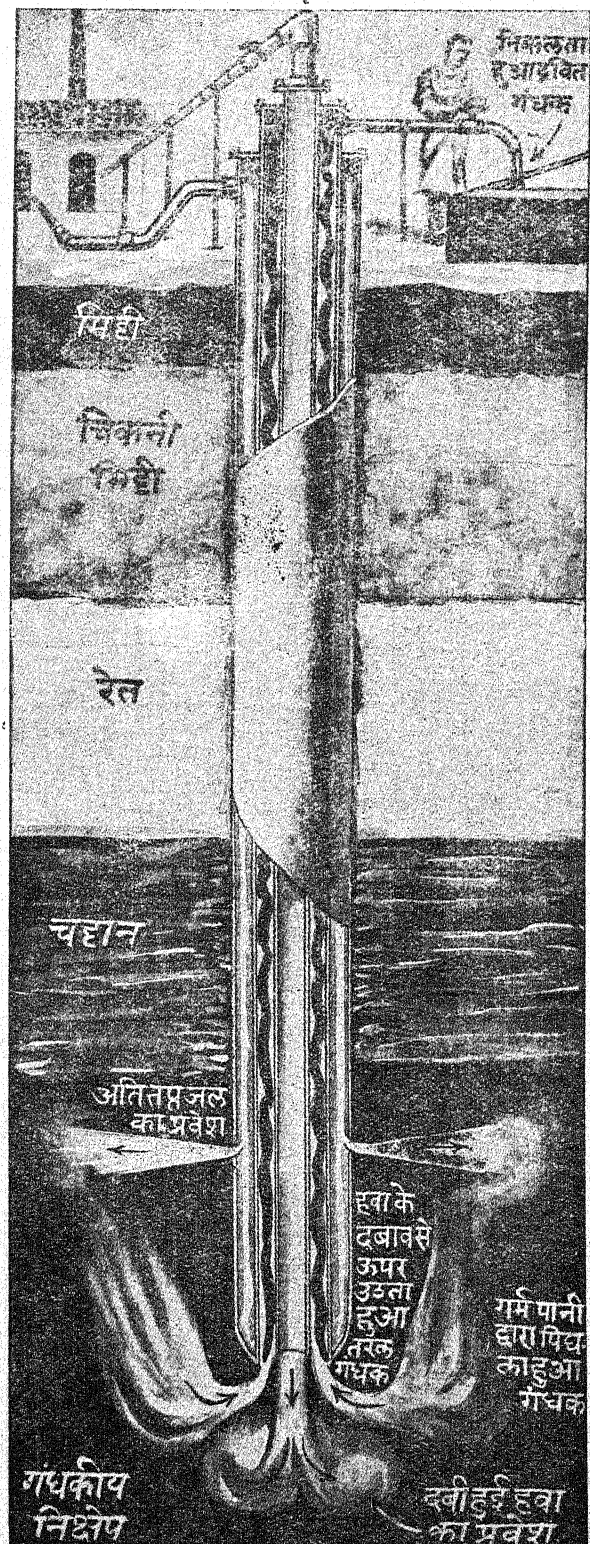
यह कुआँ लगभग १०० फ़ीट गहरा होता है, अतएव दाहिनी ओर के चित्र में नल की चौड़ाई के हिसाब से उसकी लम्बाई नहीं दिखाई जा सकी है, यह केवल मान-चित्र है।
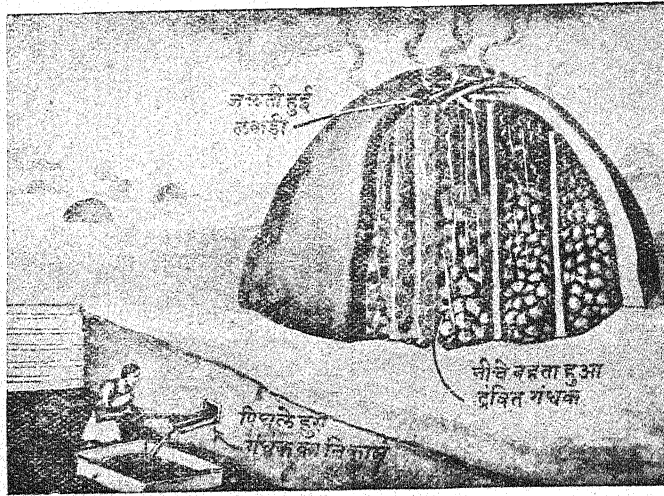
गंधक का भट्ठा

ज्वालामुखी प्रदेशों में गंधक इसी प्रकार निकाला जाता है।

शत गन्धक की ही हानि होती है। ज्वालामुखी प्रदेशों से इस प्रकार निकाला हुआ गंधक अशुद्ध होता है, अतएव उसका शोधन आवश्यक है। सिसिली के गंधक का शोधन प्राय: मार्सेलीज़ में होता है, कारण निकट होने के अलावा इस नगर में कोयला भी कहीं अधिक सस्ता मिलता है। इस शोधन-विधि में अशुद्ध गंधक को एक लोहे के पात्र में पिघलाकर नली द्वारा एक लोहे के रिटॉर्ट में ले जाया जाता है। इस रिटॉर्ट में वह उबाला जाता है, और उसका वाष्प ईंटों के बने हुए एक बड़े कोठे में पहुँचता है। यहाँ वह पहले ठंडी दीवालों पर एक हलकी पीली धूलि के रूप में घनीभूत हो जाता है। इसे दीवालों से खुरचकर अलग करके इसी रूप में काम में लाया जाता है। इस धूलि को गंधक-रज और अँगरेज़ी में "फ़्लावर्स आफ़ सल्फ़र" (Flowers of Sulphur) कहते हैं। यदि इसकी आवश्यकता नहीं होती तो उसे दीवालों पर ही रहने दिया जाता है। जब कोठे का तापक्रम गंधक के द्रवणांक के ऊपर पहुँचता है तो गंधक-रज पिघलकर नीचे बह जाता है, और गंधक-वाष्प भी तरल रूप में घनीभूत होकर कोठे की फ़र्श पर इकट्ठा होने लगता है। इस तरल गंधक को निकालकर पतले बेलनाकार साँचों में भर लिया जाता है। इस प्रकार का ढला हुआ बेलनाकार गंधक (Roll Sulphur) आपने अवश्य देखा होगा।

इसके अतिरिक्त, कोल-गैस और लाब्लाङ्क विधि से क्षार बनानेवाले कारख़ानों में उपलब्ध कतिपय उप-पदार्थों से भी कुछ न कुछ गंधक निकाल लिया जाता है।

गंधक के अनेक रूपांतर

गंधक का अस्तित्व अनेक रूपों में संभव है। हम देख चुके हैं कि ऑक्सिजन तत्त्व दो रूपांतरों में रहता है। हम आगे कभी यह भी देखेंगे कि कार्बन और फ़ास्फ़रस भी कई रूपों में रह सकते हैं। किन्तु गंधक के रूपांतरों की संख्या इन सभी तत्त्वों के रूपांतरों की संख्या से अधिक होती है। साधारण अथवा प्राकृतिक गंधक इस तत्त्व का सबसे स्थायी रूप होता है। यह एक हलका पीला, मणिभीय, अपारदर्शक, भंगुर, पानी से दुगुना भारी और उसमें अघुलनशील, तथा ताप और बिजली का कुचालक ठोस पदार्थ होता है। कार्बन डाइसल्फ़ाइड नामक द्रव में वह सरलता से घुल जाता है। इस घोल को धीरे-धीरे वाष्पीभूत होने देने से साधारण गंधक के मणिभ तैयार किए जा सकते हैं। इन मणिभों के आकार के आधार पर इस गंधक को समचतुर्भुजीय अथवा अष्ट-फलकीय गंधक कहते हैं। गर्म तारपीन के तेल में भी वह सरलता से घुल जाता है। यह गंधक गर्म करने पर ११४°C तापक्रम पर पिघलकर तृणमणि (amber) के रंग का द्रव हो जाता है। एक बड़ी घरिया में गंधक के छोटे-छोटे टुकड़े इतने ले लीजिए कि उनके पिघलने से वह लगभग आधी भर जाय। इन टुकड़ों को धीरे-धीरे तब तक गर्म कीजिए जब तक सब टुकड़े न पिघल जायँ। इस तरल गंधक को फिर इतना ठंडा कर लीजिए कि उसके तल पर एक पपड़ी जम जाय। एक छड़ द्वारा इस पपड़ी में दो छेद कर लीजिए। एक छेद अंदर हवा जाने के लिए रहने दीजिए, और दूसरे से शेष तरल गंधक उँड़ेलकर निकाल डालिए। अब सावधानी के साथ पपड़ी को तोड़कर हटा दीजिए। आप देखेंगे कि घरिया के पृष्ठ पर लम्बे-लम्बे सुई-सरीखे पीले रंग के पारदर्शक मणिभ लगे हुए हैं। गंधक का यह एक दूसरा रूपांतर है, जो मणिभों के आकार के आधार पर सम-पार्श्वीय गंधक कहलाता है। साधारण दशाओं में यह रूप स्थायी नहीं होता, और कुछ दिन रख छोड़ने पर समचतुर्भुजीय रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। ९६°C के नीचे साधारण गंधक और ९६°C से ११९°C तक समपार्श्वीय गंधक स्थायी होता है।

द्रवणांक के ऊपर गर्म करने पर तरल गन्धक का रंग

और भी गहरा होने लगता है, और उसकी चंचलता घटने लगती है। १८०°C पर वह प्रायः काला होकर इतना गाढ़ा हो जाता है कि परीक्षा-नली के उलट देने पर भी नहीं गिरता। और अधिक गर्म करने पर उसकी चंचलता फिर बढ़ने लगती है, और लगभग ४४५°C पर वह गहरी नारंगी वाष्प देते हुए उबलने लगता है। यदि क्वथनांक तक गर्म करने के बाद गंधक शीघ्रतापूर्वक ठंडे पानी में छोड़ दिया जाता है, तो वह एक गहरे भूरे-लाल रंग के अल्पपारदर्शक, अमणिभीय, नम्य, ठोस पदार्थ में परिणत हो जाता है। यह गंधक का एक अन्य रूपांतर होता है, जिसे 'नम्य गंधक' कहते हैं। रबर की भाँति यह स्थितिस्थापक (बढ़ने-घटनेवाला) भी होता है। प्रथम दो प्रकारों के विपरीत, यह गंधक कार्बन डाइसल्फ़ाइड में नहीं घुलता। उबलते हुए गन्धक की वाष्प जब ठंडे पृष्ठ पर घनीभूत की जाती है, तो 'गन्धक-रज' प्राप्त होता है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। गन्धक-रज में मुख्यतः साधारण रूपान्तर के कण, किन्तु अल्पांश में एक अमणिभीय रूपान्तर के कण मिले होते हैं। इस रूप को 'श्वेत अमणिभीय गन्धक' कहते हैं। यह भी कार्बन डाइसल्फाइड में नहीं घुलता; अतएव इसे अलग करने के लिए गन्धक-रज को कार्बन डाइसल्फ़ाइड में छोड़कर हिलाया जाता है, जिससे समचतुर्भुजीय प्रकार के कण घुल जाते हैं। इस घोल को छानने से छन्ना काग़ज़ पर अमणिभीय रूपांतर के कण रह जाते हैं।

कैल्शियम पॉलीसल्फ़ाइड अथवा पीली अमोनियम सल्फ़ाइड में हलका नमक का तेज़ाब मिलने से एक दूध-जैसा द्रव बन जाता है। इसे 'मिल्क आफ़ सल्फ़र' (गंधक का दूध) कहते हैं। दवाओं में इसका व्यवहार होता है। इसमें गंधक के बहुत ही छोटे-छोटे सफ़ेद अमणिभीय कण लटके रहते हैं, जो बहुत समय तक नीचे नहीं बैठते। गंधक के एक अन्य रूप को कॉलायडल गंधक कहते हैं। पानी में हाइड्रोजन सल्फ़ाइड और सल्फ़र डाइऑक्साइड गैसों को मिलाने और फिर इस घोल को छान लेने से यह तैयार किया जा सकता है। इस द्रव में भी गंधक के सफ़ेद अमणिभीय कण इतने लघु आकार में लटके रहते हैं कि वे छन्ना-काग़ज़ के छिद्रों से भी निकल जाते हैं।

हमने यहाँ पाठकों को गंधक के मुख्य रूपों से परिचय कराने का प्रयत्न किया है। उसके अनेक अन्य रूप भी ज्ञात हैं; यथा नेक्रिअस गंधक, टेबुलर गंधक, आदि। उपयोगिता की दृष्टि से ये रूप महत्वपूर्ण नहीं होते।

गंधक के रासायनिक गुण

विभिन्न दशाओं में, गंधक कई अधातुओं से संयुक्त होता है। हवा अथवा ऑक्सिजन में गर्म करने पर वह पहले पिघलता है, फिर एक आसमानी लौ के साथ सल्फ़र डाइऑक्साइड गैस में परिणत होते हुए जलने लगता है। गंधक जलाने पर इसी गैस की गंध आपको मिलती है। गंधक की वाष्प को रक्त-तप्त कोयले पर प्रवाहित करने से कार्बन डाइसल्फ़ाइड (CS_2) द्रव प्राप्त होता है। हाइड्रोजन और क्लोरीन जब उबलते हुए गंधक में प्रवाहित किए जाते हैं, तो हाइड्रोजन सल्फ़ाइड (H_2S) गैस, और डाइ-सल्फ़र डाइ-क्लोराइड (S_2Cl_2) नामक द्रव प्राप्त होते हैं। इसी सल्फ़र क्लोराइड का उपयोग मस्टर्ड गैस बनाने में होता है।

सुवर्ण और प्लैटिनम को छोड़कर अन्य सभी धातुओं से गंधक संयुक्त होकर धातव सल्फ़ाइडों में बदल जाता है। लोहे के बुरादे के साथ जब गंधक गर्म किया जाता
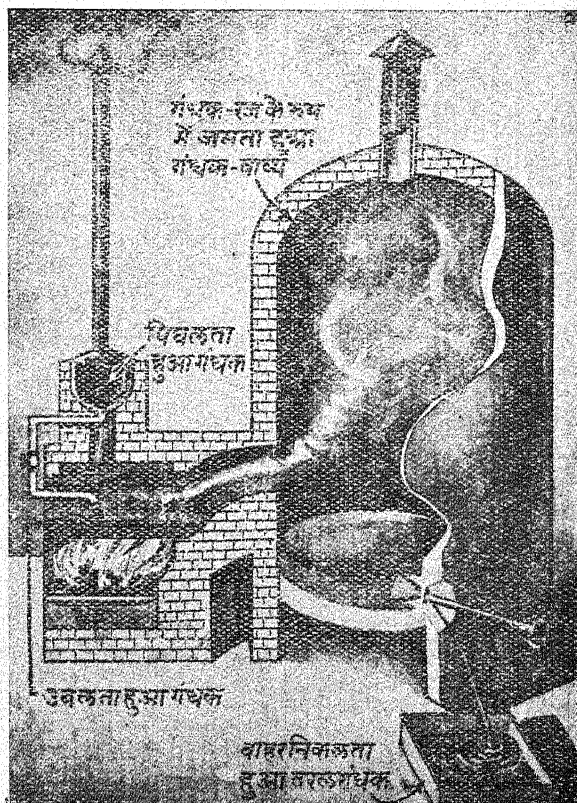
गंधक के शोधन की विधि

है तो फ़ेरस सल्फ़ाइड (FeS) तैयार हो जाता है। इसी फ़ेरस सल्फ़ाइड का उपयोग प्रयोगशाला में हाइड्रोजन सल्फ़ाइड गैस के तैयार करने में होता है। ताँबे का पत्तर तो उबलते हुए गंधक के वाष्प में रखने से जल तक उठता है और ताम्रस सल्फ़ाइड (Cu_2S) में परिवर्तित हो जाता है। सोडियम और पोटैशियम को गंधक के साथ गर्म करने पर वे भभककर जल उठते हैं, और सोडियम सल्फ़ाइड (Na_2S) और पोटैशियम सल्फ़ाइड (K_2S) बन जाते हैं। चाँदी, जस्ता, आदि धातु भी, गंधक के साथ गर्म करने पर, सिल्वर सल्फ़ाइड (Ag_2S), ज़िङ्क सल्फ़ाइड (ZnS) आदि सल्फ़ाइडों में बदल जाते हैं। पारे को तो गंधक के साथ खरल में रगड़ने से ही वह काली पारदिक सल्फ़ाइड में बदल जाता है।

सल्फ़र डाइऑक्साइड

सल्फ़र डाइऑक्साइड गन्धक की सबसे महत्वपूर्ण ऑक्साइड है। यह एक अम्लीय ऑक्साइड होती है और पानी में घुलकर सल्फ़्यूरस ऐसिड का उत्पादन करती है ($SO_2+H_2O=H_2SO_3$)। इस अम्ल का अस्तित्व ठंडे घोल के रूप में ही ज्ञात है। गर्म करने से सल्फ़र डाइऑक्साइड गैस घोल में से निकलने लगती है, यहाँ तक कि उबलने के तापक्रम पर पहुँचने तक सारी गैस निकल जाती है और केवल पानी ही रह जाता है। सल्फ़र डाइऑक्साइड से ही महत्वपूर्ण पदार्थ सल्फ़्यूरिक ऐसिड का बृहद् परिमाणों में निर्माण होता है। इसके लिए सल्फ़र डाइऑक्साइड को उत्प्रेरक पदार्थों की उपस्थिति में हवा की ऑक्सिजन के संयोग से, अथवा नाइट्रोजन परॉक्साइड की ऑक्सीकारी क्रिया द्वारा सल्फ़र ट्राइऑक्साइड (SO_3) में परिणत कर देते हैं। यह सल्फर ट्राइऑक्साइड पानी की उपस्थिति में तुरन्त गंधकाम्ल में परिवर्त्तित हो जाती है ($SO_3+H_2O=H_2SO_4$)। अम्लीय ऑक्साइड होने के कारण सल्फ़र डाइऑक्साइड क्षारों को उदासीन करके सल्फ़ाइट लवणों का उत्पादन करती है। यथा कास्टिक सोडा के घोल में सल्फ़र डाइऑक्साइड प्रवाहित करके सोडियम सल्फ़ाइड (Na_2SO_3) तैयार किया जाता है। जैसा अभी बताया जा चुका है, सल्फ़र डाइऑक्साइड में एक और ऑक्सिजन के परमाणु से संयुक्त होने की क्षमता होती है। इस ऑक्सिजन के परमाणु को वह कई यौगिकों से ले सकती है, अतएव सल्फ़र डाइऑक्साइड अवकारक (ऑक्सिजन निकाल लेने का) गुण प्रदर्शित करती है। एक दीप-चमची में थोड़ा-सा गन्धक रखकर उसे गर्म करके जला लीजिए, और फिर उसे एक जार में डालकर गन्धक को जितना जल सके जल जाने दीजिए। इस जार में गन्धकाम्ल मिला हुआ थोड़ा सा पोटैशियम परमैङ्गनेट का घोल छोड़ दीजिए और उसे फिर से बंद करके हिलाइए। घोल का लाल रंग तुरंत उड़ जायगा। यह रंगविनाश परमैङ्गनेट के अवकरण से ही होता है। इसी प्रकार गंधकाम्ल मिला हुआ पोटैशियम डाइक्रोमेट का घोल नारंगी रंग से हरा हो जाता है। क्लोरीन वाटर में सल्फ़र डाइऑक्साइड मिलाने से घोल में हाइड्रोक्लोरिक और सल्फ़्यूरिक ऐसिडें बनकर रह जाती हैं। इसीलिए 'ऐण्टीक्लोर' (anti-chlor) के नाम से सल्फ़र डाइऑक्साइड का व्यवहार क्लोरीन द्वारा विरंजित पदार्थों से बची हुई क्लोरीन को निकाल डालने में होता है। सल्फ़र डाइऑक्साइड स्वयं एक रंगनाशक पदार्थ है। क्लोरीन के और सल्फ़र डाइऑक्साइड के इस गुण में यह अन्तर होता है कि क्लोरीन द्वारा रंगविनाश ऑक्सीकरण से और सल्फ़र डाइऑक्साइड द्वारा अवकरण से होता है। सल्फ़र डाइऑक्साइड से रंग का विनाश स्थायी नहीं होता, कारण हवा के ऑक्सीकारक प्रभाव द्वारा कुछ-न-कुछ रंग फिर लौट आता है। ऊन, रेशम, तिनकों, शक्कर आदि को विरंजित करने में सल्फ़र डाइऑक्साइड का बहुत उपयोग होता है। भारतीय शक्कर के कारख़ानों में शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें सल्फ़र डाइऑक्साइड की गंध आपको न मिले। यहाँ के कारख़ानों में इसका महत्व इसलिए और भी है कि हड्डी के कोयले का व्यवहार अधिकतर भारतीय पसंद नहीं करते। यह गैस कीटाणु-नाशक भी होती है। इसीलिए अस्पतालों तथा अन्य स्थानों में निःसंक्रामक के रूप में, और शराब, मांस, खालें, आदि को सुरक्षित रखने के लिए उसका व्यवहार होता है। अमोनिया की भाँति सल्फ़र डाइऑक्साइड सरलतापूर्वक द्रवीभूत हो जानेवाली गैस होती है, अतएव रेफ़्रिजरेटरों में उसका व्यवहार बहुत होता है। यदि आपको सल्फ़र डाइऑक्साइड में गंधक और ऑक्सिजन की उपस्थिति को सिद्ध करना हो, तो उससे भरे हुए एक जार में चिमटे से पकड़कर एक जलता हुआ मैग्नेशियम के फ़ीते का टुकड़ा लटका दीजिए। वह चिट-चिट की आवाज़ करता हुआ जलेगा और मैग्नेशियम ऑक्साइड में बदल जायगा, और गंधक के कुछ टुकड़े आपको जार के पृष्ठ पर लगे हुए दिखाई देंगे।

इस प्रतिक्रिया में सल्फ़र डाइऑक्साइड ऑक्सीकारक गुण प्रदर्शित करती है।

प्रयोगशाला में सल्फ़र डाइऑक्साइड गैस प्रायः सान्द्र गंधकाम्ल को ताँबे के छीलनों के साथ गर्म करके तैयार की जाती है। एक फ़्लास्क में कुछ ताँबे के छीलन लेकर उसमें इतना सल्फ़्यूरिक ऐसिड डाला जाता है कि छीलन ढक जायँ। फ़्लास्क में एक थिसिल-कीप और समकोण पर दो बार झुकी हुई निकास-नली लगी होती है। फ़्लास्क सामान्य विधि से गर्म किया जाता है, और हवा को ऊपर हटाकर गैस जारों में भर ली जाती है।

इसके तैयार करने की एक सरलतर विधि में सल्फ़ाइटों पर अम्लों की क्रिया का उपयोग होता है। इसके लिए पृष्ठ १६५० के चित्र में दिखाए हुए अपरेटस का प्रबंध करना होता है। फ़्लास्क में सोडियम सल्फ़ाइट अथवा और भी अच्छा यह है कि सोडियम बाइसल्फ़ाइट का कुछ संपृक्त घोल ले लीजिए। कीप में कुछ सांद्र गंधकाम्ल ले लीजिए और उसे बूँद-बूँद करके फ़्लास्क में छोड़ते रहिए। गैस की एक तेज़ धार निकलने लगेगी।

बड़े परिमाणों में सल्फ़र डाइऑक्साइड प्रायः या तो प्राकृतिक गंधक को जलाकर अथवा लोहे की पाइराइटों को हवा की धारा में गर्म करके तैयार की जाती है। जस्ता, पारा आदि धातुओं के निर्माण में भी इसका उत्पादन होता है, कारण इनकी प्राकृतिक सल्फ़ाइडों को जलाकर ही ये धातु निकाले जाते हैं। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि लोहे की पाइराइटों से सल्फ़र डाइऑक्साइड और फिर सल्फ़र डाइऑक्साइड से सल्फ़्यूरिक ऐसिड किस प्रकार बृहद् परिमाणों में तैयार किए जाते हैं।

हाइड्रोजन सल्फ़ाइड

रासायनिक प्रयोगशालाओं में अथवा उनके पास से निकलने पर आपको कदाचित् एक दुर्गंधयुक्त गैस का अनुभव हुआ होगा। इस गैस का नाम हाइड्रोजन सल्फ़ाइड या सल्फ़्युरेटेड हाइड्रोजन है। रसायन के विश्लेषणात्मक प्रयोगों के लिए यह गैस बड़ी ही महत्व-पूर्ण और आवश्यक है। गंधकयुक्त जीव-पदार्थों के सड़ने से भी यह गैस निकलती है। सड़े अंडों में इसकी दुर्गंध इसीलिए मिलती है। कुछ खनिज सोतों के पानी में भी यह गैस घुली हुई पाई जाती है।

यह गैस सल्फ़ाइडों पर नमक अथवा गन्धक के तेज़ाब की क्रिया से सरलता से बनाई जा सकती है। इसे तैयार करने के लिए लोहे की सल्फ़ाइड पर हलकी व्यापारिक हाइड्रोक्लोरिक अथवा सल्फ़्यूरिक ऐसिड (एक भाग ऐसिड और दो भाग पानी) की क्रिया का उपयोग होता है। रसायनशाला के बाहर रक्खे हुए किप अपरेटस (दे० पृ० २७३) में होती हुई इस प्रतिक्रिया को शायद आपने देखा हो। बीचवाले गोले में फ़ेरस सल्फ़ाइड के काले टुकड़े रक्खे रहते हैं, और ऊपर और नीचेवाले गोलों में हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड चढ़ती-उतरती है। इसी ऐसिड का उपयोग बहुधा होता है, कारण सल्फ़्यूरिक ऐसिड की क्रिया से फ़ेरस सल्फ़ेट बनकर मणिभों के रूप में पृथक् हो जाता है और बहुधा किप अपरेटस के मार्गों को रोक देता है।

यदि थोड़ी-सी ही हाइड्रोजन सल्फ़ाइड की आवश्यकता हो तो थिसिल-कीप और निकास-नली लगे हुए फ़्लास्क अथवा वुल्फ़
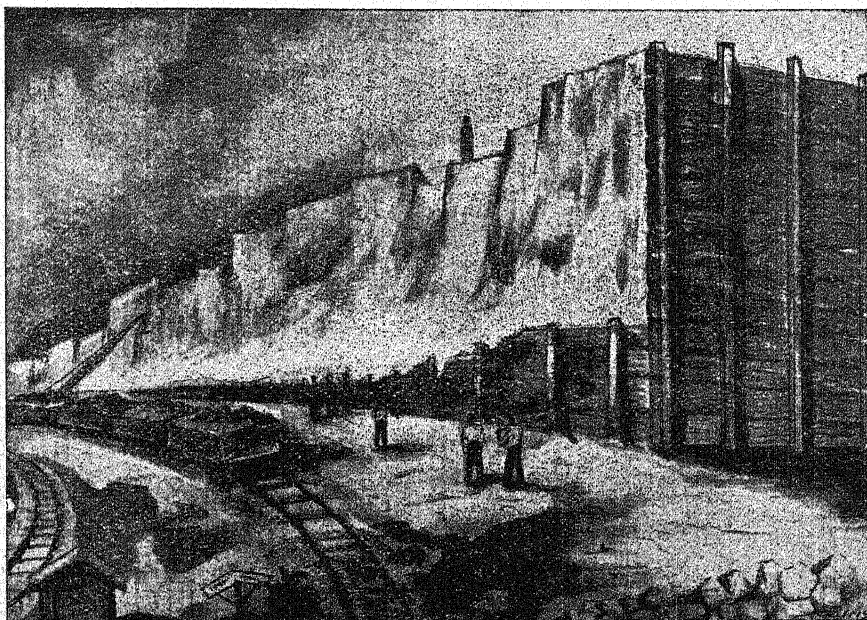
फ़्रैश की विधि से निकाले हुए गंधक का टीला

की बोतल को काम में लाया जा सकता है (दे० चित्र पृ० २७२)। यह गैस ठंडे पानी में बहुत-कुछ घुलनशील होती है और वह हवा से लगभग १॥ गुनी भारी होती है, अतएव वह या तो गुनगुने पानी को नीचे अथवा हवा को ऊपर हटाकर इकट्ठी की जा सकती है। फेरस सल्फ़ाइड में कुछ-न-कुछ लोहे के कण भी मिले रहते हैं, अतएव उससे बनाई हुई हाइड्रोजन सल्फ़ाइड में कुछ हाइड्रोजन गैस भी मिली रहती है।

रसायनशाला में प्रयुक्त होती हुई हाइड्रोजन सल्फ़ाइड के किप के पास यदि आप थोड़ी देर खड़े हों तो आपको बड़ी मनोरंजक रासायनिक क्रियाओं को देखने का अवसर मिलेगा। लवणों के घोलों में उसके प्रवाहित किये जाने पर आपको बहुधा रंग-बिरंगे अवक्षेप पृथक् होते हुए दिखाई देंगे। यदि आपको इस गैस का किप सुलभ हो सके, तो आप तूतिया के थोड़े से घोल को एक परीक्षा-नली में लेकर उसमें इसको धीरे-धीरे बुलबुलाएँ। आप उस घोल से एक काला पदार्थ अवक्षिप्त होते देखेंगे। यदि आपको थोड़ी-सी सफ़ेद संखिया (आर्सीनियस ऑक्साइड) मिल सके तो उसे परीक्षा-नली में रखकर उसमें हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड छोड़ें और फिर उसे उबालकर छन्ना-काग़ज़ द्वारा छान लें। यह घोल आर्सीनियस क्लोराइड का होगा। इसमें हाइड्रोजन सल्फ़ाइड उसी प्रकार प्रवाहित करने पर आपको एक पीला अवक्षेप पृथक् होता हुआ मिलेगा। इसी प्रकार हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड में ऐण्टिमनी के किसी लवण के घोल में इस गैस को प्रवाहित करने पर एक नारंगी रंग का पदार्थ पृथक् होता है। ये अवक्षिप्त होते हुए पदार्थ धातुओं के सल्फ़ाइड होते हैं। तूतिया (कॉपर सल्फ़ेट) से कॉपर सल्फ़ाइड, आर्सीनियस क्लोराइड से आर्सीनियस सल्फ़ाइड और ऐण्टिमनी क्लोराइड से ऐण्टिमनी सल्फ़ाइड पृथक् होते हैं। इसी प्रकार अनेक अन्य धातुओं के लवणों के घोलों से इन धातुओं के सल्फ़ाइड पृथक् होते हैं। रासायनिक विश्लेषण में इस गैस का महत्व यही है कि वह लवणों के घोलों से धातुओं को सल्फ़ाइड के रूप में पृथक् कर देती है। धातव सल्फ़ाइडों को तैयार करने में भी वह बहुत काम में लाई जाती है।

हाइड्रोजन सल्फ़ाइड एक विषाक्त गैस होती है। थोड़े परिमाणों में ही इसे सूँघने से जी घूमने और शिर में दर्द होने लगता है। यदि हवा के १०० भागों में उसका आधा भाग भी मिला हो तो कुछ समय में वह प्राणघातक सिद्ध हो सकती है। इसीलिए किप का अपरेटस प्रयोगशाला के बाहर अथवा धूम-कोष्ठ में रक्खा जाता है। अधिकतर धातुओं की चमक उसके संसर्ग में आते ही नष्ट हो जाती है। यह इसलिए होता है कि धातु का पृष्ठ उसके सल्फ़ाइड से ढक जाता है। इस गैस के अपरेटस को रसायनशाला के बाहर रखने का यह दूसरा कारण है। रसायनशाला में रासायनिक तुलाओं को अलग कमरे में इसीलिए ढककर रक्खा जाता है कि वे हाइड्रोजन सल्फ़ाइड, अम्लों आदि के धूमों के कारण खराब न हो सकें।

हाइड्रोजन सल्फ़ाइड दो मूलतत्त्वों अर्थात् हाइड्रोजन और सल्फ़र (गंधक) का यौगिक होता है और उसके एक अणु में हाइड्रोजन के दो परमाणु और गन्धक का एक परमाणु रहता है। इसीलिए उसका अणु-सूत्र H_2S लिखा जाता है। इसके दोनों तत्त्व प्रज्ज्वलनशील होते हैं, अतएव वह भी जलनेवाली होती है और हवा के साथ उसका मिश्रण विस्फोटक हो जाता है। हाइड्रोजन सल्फ़ाइड के किप की टोंटी में रबर की नली के टुकड़े द्वारा एक जेट जोड़ दीजिए, और हवा को पूर्णतः निकाल देने के लिए कुछ समय तक टोंटी को खोल दीजिए। अब दियासलाई जलाकर जेट के पास ले जाइए। निकलती हुई गैस जेट के सिरे पर जलने लगेगी। जलने से हाइड्रोजन सल्फ़ाइड की हाइड्रोजन पानी में और गन्धक सल्फ़र डाइऑक्साइड में परिवर्त्तित हो जाता है। विशेषतः हाइड्रोजन सल्फ़ाइड की हाइड्रोजन में और कभी-कभी उसके गन्धक में भी सरलता से ऑक्सिजन से संयुक्त हो जाने अथवा दूसरे पदार्थों से ऑक्सिजन को निकाल लेने की क्षमता होती है। अतएव, हाइड्रोजन सल्फ़ाइड में प्रायः अवकारक गुण मिलते हैं। सल्फ़र डाइआक्साइड की भाँति वह पोटैशियम परमैङ्गनेट और पोटैशियम डाइक्रोमेट के घोलों को क्रमशः रंगहीन और हरा कर देती है। गन्धकाम्ल को वह सल्फ़र डाइऑक्साइड में अवकृत कर देती है, इसीलिए उसके द्वारा वह सुखाई नहीं जा सकती। हाइड्रोजन सल्फ़ाइड के जलीय घोल में अम्लीय गुण होते हैं। क्षारों में प्रवाहित करने पर इसीलिए उसके लवण अर्थात् सल्फ़ाइड बन जाते हैं, यथा कास्टिक सोडा के घोल से सोडियम सल्फ़ाइड और अमोनिया के घोल में बुलबुलाने से अमोनियम सल्फ़ाइड बन जाता है।

पृथ्वी की कहानी

दुनिया का एक मशहूर गाइसर—'ओल्ड फेथफुल गाइसर', यलोस्टोन पार्क (अमेरिका)

तप्त जल का यह महान् प्राकृतिक फव्वारा अपने नियमित उद्गारों के कारण ही उपर्युक्त नाम से पुकारा जाता है। बरसों से यह प्रति पैंसठ मिनिट के बाद १२० से १७० फ़ीट ऊँचाई तक अपनी गर्म जलधारा की फुहार छोड़ता चला आ रहा है। प्रस्तुत चित्र की पृष्ठभूमि में ऊपर की ओर उठता हुआ-सा जो श्वेत बादल जैसा दिखाई दे रहा है, वही इस महान् गाइसर का तप्त जल और बाष्प-मिश्रित फुहार है। समीप खड़े मनुष्य की आकृति से तुलना करके आप इस फुहार की विशालता का अनुमान लगा सकते हैं।
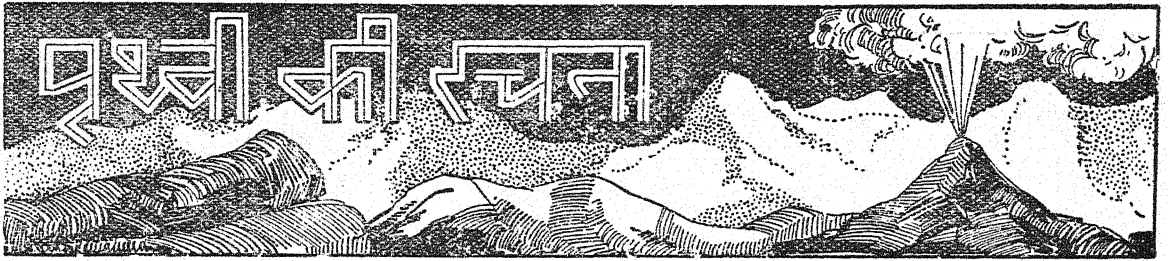
'गाइसर' या तप्त जल और भाप के प्राकृतिक फ़व्वारे

पृथ्वी के गर्भ-मंदिर में छिपे हुए प्रकृति के अद्भुत कारख़ाने की लीलाओं का कुछ-कुछ आभास धरातल पर यहाँ-वहाँ दिखाई पड़नेवाले जिन आश्चर्यों द्वारा हमें मिलता है, 'गाइसर' या गरम जल और भाप के प्राकृतिक फ़व्वारे भी उनमें से एक हैं। आइए, इस लेख में इन्हीं का परिचय आपको दें।

गाइसर गरम पानी के उन सोतों को कहते हैं, जो ज्वालामुखी पर्वतों के क्षेत्रों में पाए जाते हैं और जिनसे समय-समय पर तप्त जल की धारा और भाप फुहारों के रूप में वायुमण्डल की ओर उछलती हुई कहीं-कहीं २५०-३०० फ़ीट से भी अधिक ऊँची उठ जाती है। 'गाइसर' (Geyser) आइसलैण्ड की भाषा का शब्द है और इसका अर्थ होता है 'उछलता हुआ जल'। यह प्रकृति की एक अनोखी रचना है। सम्पूर्ण धरातल पर केवल तीन प्रदेश ही ऐसे हैं, जहाँ गाइसर पाए जाते हैं। ये प्रदेश हैं आइसलैण्ड, न्यूज़ीलैण्ड का उत्तरी द्वीप, तथा संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) का 'यलोस्टोन नेशनल पार्क'। गाइसर-कुण्ड की बनावट और उसके उद्गार को देखने से यही प्रतीत होता है कि यह ज्वालामुखी का सूक्ष्म रूप है और इसके उद्गार में लावा, धूलि, पत्थर, वाष्प, राख आदि के स्थान पर केवल भाप और तप्त जल का ही उद्गार होता है। तप्त जल में कहीं-कहीं अनेकों प्रकार के खनिज आदि भी घुले रहते हैं, जो गाइसर-कुण्ड के मुख पर जमा होते रहते हैं। ज्वालामुखी की नाईं गाइसर में भी एक मुखगर्त्त होता है, जिसका संबंध एक चौड़ी अथवा सकड़ी नली के द्वारा भूगर्भ की ओर से रहता है। मुखगर्त्त तथा इस नली में सदा खौलता जल भरा रहता है, जिसमें से भाप के बुदबुदे उठते रहते हैं। इस मुखगर्त्त को घेरे हुए एक छोटा या बड़ा टीला होता है, जो गाइसर के जल में घुले खनिज पदार्थों के जमा हो जाने से बन जाता है और ज्वालामुखी के शंकु का प्रतिरूप मालूम होता है। कहीं-कहीं गाइसर के मुखगर्त्त को घेरे हुए खनिज पदार्थों की, और विशेषकर बालुका की, एक छोटी ऊँचाई की भीत बन जाती है, जो एक बड़े कुएँ की भीत-सी प्रतीत होती है। कहीं पर टीला मुखगर्त्त को भी ढक लेता है और उसकी छत में बने अनेकों छिद्रों ही से गाइसर का उद्गार होता है। तब एक के स्थान पर अनेकों फुहारे छूटते हैं।
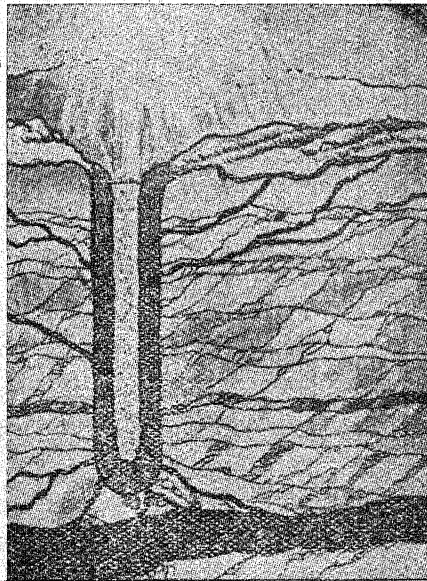
गाइसर की रचना ज्वालामुखी जैसी ही होती है। इसके भी मुख का संबंध नली द्वारा भूगर्भ से रहता है, जहाँ से तप्त जल, वाष्प आदि निकलते हैं।

एक-दो को छोड़कर, बहुधा गाइसरों का उद्गार निश्चित अवधि के पश्चात् नियमित रूप से होता है और उद्गार-काल भी बहुधा निश्चित्-सा ही रहता है। गरम सोतों और गाइसरों में वही संबंध समझना चाहिए, जो शान्त ज्वालामुखियों (जिनसे लावा का प्रवाह सदैव शनैः-शनैः होता रहता है) और उन ज्वालामुखियों में है जिनसे समय-समय पर विस्फोटक उद्गार होता है। आइसलैण्ड का 'ग्रेट (महान्) गाइसर' संसार का सबसे प्रसिद्ध
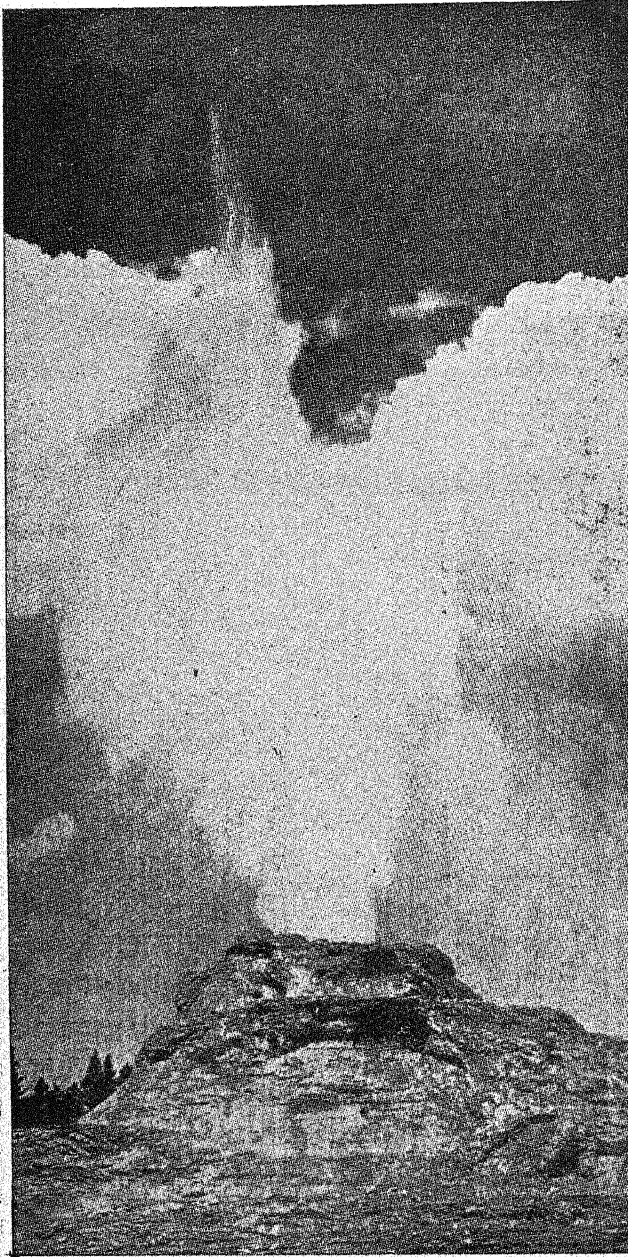
अमेरिका के सुप्रसिद्ध यलोस्टोन नेशनल पार्क का एक तप्त जल का प्राकृतिक फव्वारा—'केसल गाइसर'
ज्वालामुखी के समान गाइसर के शंकु की रचना स्पष्ट दिखाई दे रही है।

गाइसर है। इसका शंकु १२० फ़ीट व्यास के वृत्त में है और ऊँचाई में वह १३ फ़ीट है। शंकु की चोटी पर जो मुखगर्त्त है उसका व्यास ६० फ़ीट के लगभग है और गहराई पाँच फ़ीट। गाइसर की नली भी १० फ़ीट व्यास की है। नली और मुखगर्त्त में भरे खौलते जल का तापक्रम लगभग ७५° से ६०° तक रहता है। परन्तु ७० फ़ीट की गहराई पर जल का तापक्रम १३०° से अधिक हो जाता है। लगभग प्रति २४ घंटे के उपरान्त गढ़े का जल उफ़नने लगता है और उफ़नकर १०० फ़ीट ऊँचे जलस्तंभ के रूप में वायु में उठ जाता तथा फ़व्वारे के समान चारों ओर बरसने लगता है।

यलोस्टोन पार्क में एक पुराना गाइसर है, जिसका नाम 'ओल्ड फेथफ़ुल गाइसर' रखा गया है। इसमें प्रति ६५ मिनटों के पश्चात् उफ़ान आता है और प्रत्येक उद्गार ४ मिनट तक चालू रहता है। रात-दिन प्रत्येक ऋतु और मौसम में इस गाइसर का यह क्रम नियम-पूर्वक युगों से चला आता है। इसीलिए लोगों ने इसका नाम 'Eternity's Timepiece' (अनंत की घड़ी) रख छोड़ा है। इसका टीला १४५ फ़ीट लम्बा तथा २१५ फ़ीट चौड़ा है और चोटी २०×५४ फ़ीट आकार की है। चोटी की ऊँचाई १२ फ़ीट है। नली की चौड़ाई २॥ फ़ीट है। मुख के पास ८ फ़ीट ऊँची भीत बनी है, जो ६ इंच से लेकर ३ फ़ीट व्यास की गोल पत्थरों की गुठलियों से बनी हुई है। पाषाण की ये गुठलियाँ 'सिलिका' (Silica) नामक खनिज पदार्थ के सूक्ष्म गोल कणों से मढ़ी होती हैं। पास से देखने पर भी ये गोल पाषाण धातु के गोले जैसे लगते हैं। दूर से इनमें गुलाबी रंग की झलक दिखाई पड़ती है। जल से भीगे रहने से रंगों की एक विचित्र आभा इनमें उत्पन्न हो जाती है। कठोर पाषाण के बने होने पर भी इनकी रंग-बिरंगी अनोखी आभा से ऐसा प्रतीत होता है मानों तितलियों के कोमल परों का एक ढेर लगा दिया गया हो। उद्गार के समय इस गाइसर के निकट पहले गड़गड़ाहट का भारी शब्द सुनाई पड़ता है और फिर क्षण भर में ही जादूगर की रस्सी की भाँति २ गज़ व्यास का भव्य जलस्तम्भ वेग से ऊपर की ओर उठने लगता है, जिसके साथ-साथ भाप के बादल, महीन-महीन बूँदों के फ़ुहारे तथा मोटी धारा का उछलता हुआ जल चारों ओर बरसने लगता है! मोटी जलधारावाला फ़व्वारा १५० फ़ीट की ऊँचाई तक चला जाता है, मानो कोई

अदृश्य शक्ति उसकी धारा को ऊपर खींचे लिये जा रही हो। यह फुहारा कई मिनट तक छूटता रहता है। चारों ओर वेग से जल गिरता है, जो टीले के ढालों से होकर आस-पास की निचली भूमि पर बह जाता है। पवन के वेग से कभी-कभी ऊपर उठी हुई जलधारा फहराती हुई विशाल धवल पताका का रूप धारण कर लेती है। सूर्य-प्रकाश में फुहारे से गिरती हुई जल की असंख्य नन्हीं बूँदें और भाप के कण मणि-मुक्ताओं की-सी आभा उत्पन्न करते हैं। इसकी शोभा चन्द्रमा के प्रकाश में विशेष दर्शनीय होती है। (दे० पृ० २१०० का चित्र)

इस गाइसर के समीप ही एक दूसरा गाइसर और है जिसे 'दानव' (Giant Geyser) का नाम दिया गया है। इसका उद्‌गार अनिश्चित रूप से और यदा-कदा ही होता है। इसके मुख की चौड़ाई १८ फ़ीट है। उद्‌गार के समय इसमें विचित्र गड़गड़ाहट सुनाई देती है और मुख में खौलता जल उफ़नने लगता है। थोड़ी ही देर में विचित्र शब्द करता हुआ तप्त जल उछलने लगता है और चारों ओर भाप के बादल छा जाते हैं। मोटी जलधारा का फ़ुहारा ५०-६० फ़ीट की ऊँचाई तक उठ जाता है और तब इस फुहारे की धारा के सिरे से पाँच-छः छोटी-छोटी और धाराएँ (६ इञ्च से १५ इञ्च व्यास की मोटाईवाली) निकलकर २००-२५० फ़ीट ऊँची चली जाती हैं। उद्‌गार का समय लगभग २०-२५ मिनट तक रहता है। फिर जल नीचे बैठने लगता है और गड़गड़ाहट की ध्वनि भी बन्द हो जाती है।

गाइसरों का रुक-रुककर उद्‌गार करना बड़ा मनोरंजक है। बुन्सन नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने गाइसरों के उद्‌गार का कारण जानने के लिए आइसलैण्ड के महान् गाइसर के उद्‌गार और उसकी रचना का अध्ययन करके यह निश्चित किया है कि गाइसर का रुक-रुककर उद्‌गार होना जल के वाष्पीकरण के ताप और दबाव के पारस्परिक संबंध के कारण है। साधारणतः वायु-

अमेरिका के यलोस्टोन नेशनल पार्क के प्रसिद्ध 'दानव' या 'जाएन्ट गाइसर' का शंकु
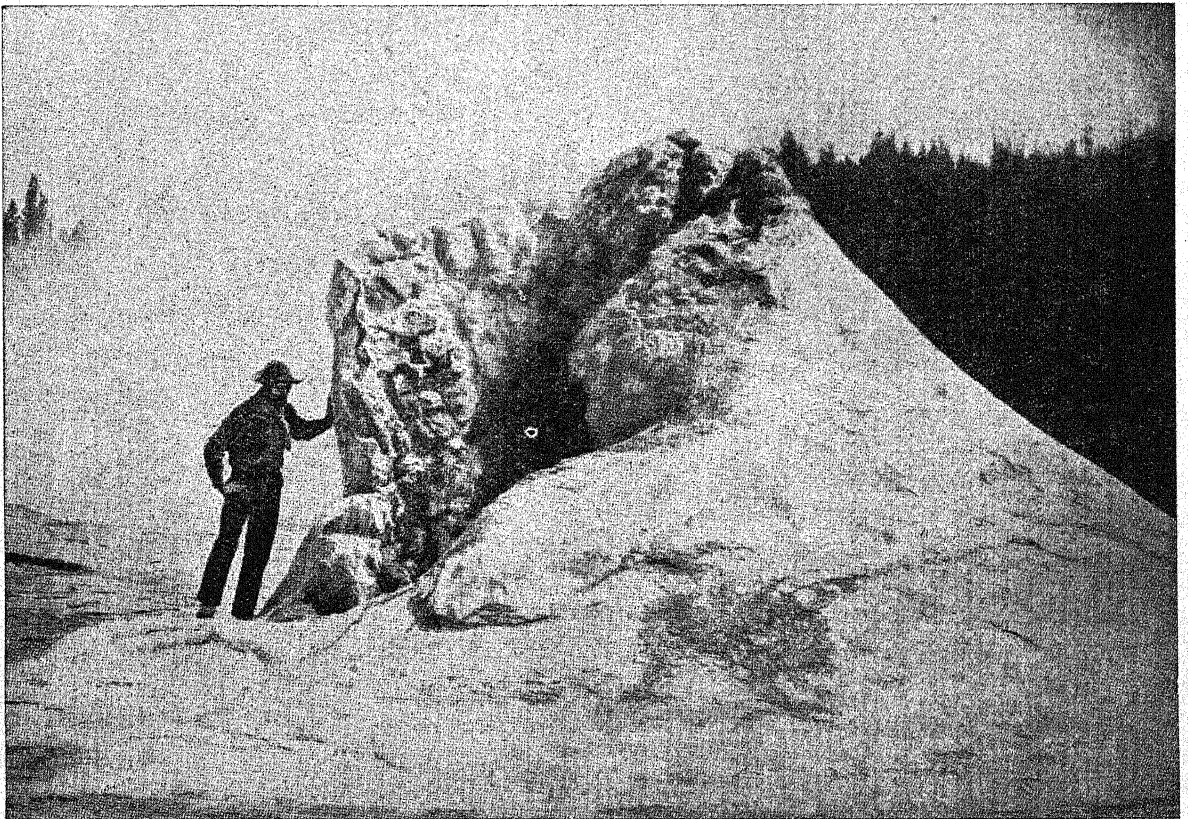
इस शंकु की ऊँचाई लगभग १० फ़ीट, घेरे का व्यास २९ फ़ीट तथा मुख-गर्त्त का व्यास १८ फ़ीट है।
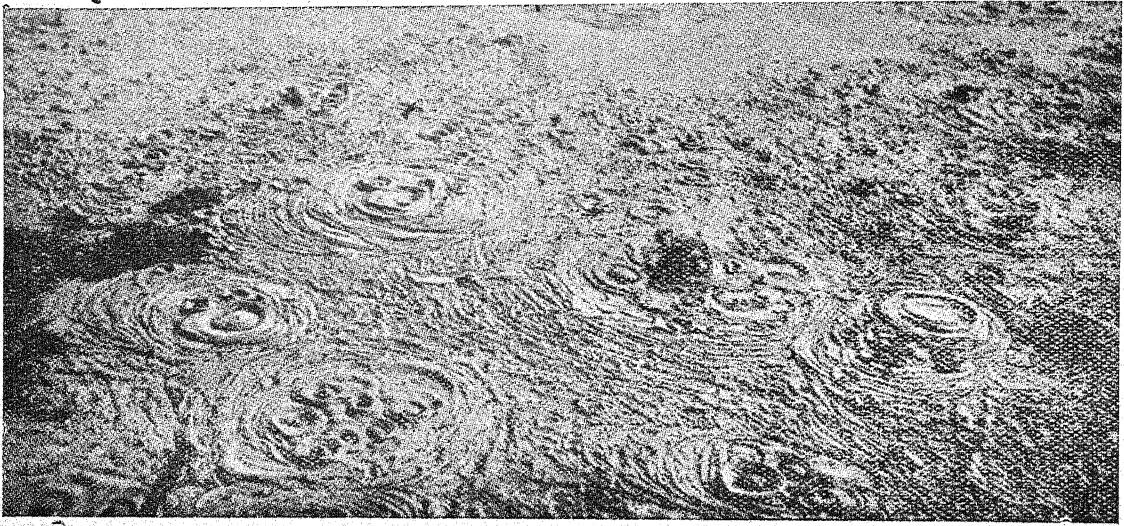
न्यूज़ीलैण्ड के गाइसर-प्रदेश में पाए जानेवाले एक पंक-ज्वालामुखी के विवर का भीतरी दृश्य
इन गढ़ों और उनके शंकुओं की उत्पत्ति वास्तव में खौलते पानी के सोतों में अपर्याप्त जल के कारण होती है। इनमें जल के बदले उबलते हुए कीचड़ का उद्गार निकलता रहता है।

मण्डल के दबाव में समुद्र-तल पर जल २१२° फ़० पर भाप में परिणत होने लगता है। यदि दबाव बढ़ा दिया जाय तो तापांश भी बढ़ जाता है और इसी तरह दबाव घटने पर पुनः तापांश घट जाता है। गाइसर की नली में भरे हुए जल के नीचे के भाग में ज्यों-ज्यों हम अधिक नीचे की ओर चलते जाएँगे, त्यों-त्यों जल के वाष्पीकरण का तापांश अधिक होता जायगा, क्योंकि अधिक नीचे के जल को ऊपर के जल के दबाव के कारण अधिक तापक्रम पर भाप बनने का अवसर मिलता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों हम गाइसर की नली में नीचे उतरते जाएँगे, त्यों-त्यों जल का तापक्रम अधिक होता जायगा। अधिक तापक्रम के कारण नीचे का जल ऊपर की ओर उठता है और यदि गाइसर की नली चौड़ी और सीधी होती है तो संवाहन की क्रिया से समस्त नली का जल लगभग एक ही तापांश पर पहुँच जाता है और मुख पर जल का फ़ुहारा उठने के स्थान पर खौलता हुआ पानी का कुण्ड बन जाता है, जिससे जल चारों ओर उफ़न-उफ़नकर बहता रहता है। परन्तु यदि नली सकड़ी और टेढ़ी-मेढ़ी होती है तो संवाहन की क्रिया में रुकावट पड़ जाती है और नली के किसी भी भाग में क्षणभर में तापांश वाष्पीकरण के तापांश के लगभग निकट पहुँच जाता है और इससे जो भाप बनती है वह ऊपर के जलस्तम्भ को ऊपर ढकेल देती है। ऊपर उठने से जल गाइसर के मुख से बाहर उछलकर बहने लगता है, जिससे नीचे के उस स्थान पर दबाव में कमी पड़ती है और दबाव में कमी होते ही उस स्थान पर जल एकदम भाप में परिणत हो जाता है तथा इस भाप के ज़ोर से ऊपर का जल और भाप फ़ुहारे के रूप में ऊँचे उछलने लगते है। जब जल का उद्गार समाप्त हो जाता है तब आभ्यन्तरिक जल से गाइसर की नली फिर भर जाती है और फिर कुछ काल-पर्यन्त वही दशा उत्पन्न हो जाती है जो जल को ऊपर उछाल देती है।

गाइसर के मुख में सोडा, साबुन, लाई (*lye*) आदि पदार्थ पड़ जाने से भी कभी-कभी गाइसर में उबाल आ जाता है। इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक दन्तकथा प्रसिद्ध है। यलोस्टोन नेशनल पार्क के एक गाइसर का नाम 'चाइनामैन्स लाण्ड्री टब' (Chinaman's Laundry Tub) है। यह कहा जाता है कि एक चीनी ने इस झरने का पता लगाया और उसने यहाँ कपड़े धोने का व्यापार आरम्भ कर दिया। सोते के ऊपर अपना तम्बू तानकर वह धुलाई का धंधा चलाने लगा। काम ज़ोरों पर था और ख़ूब आमदनी होती थी। दुर्भाग्य से एक दिन उसकी साबुन की बट्टी सोते के जल में गिर पड़ी। बस वैसे ही उसमें तूफ़ान आ गया! कहते है, सोते के जल में बड़े वेग की बाढ़ आई और वह जल फ़ुहारे के रूप में जो उछला तो वह चीनी धोबी और उसका तम्बू-डेरा, मय उसके कपड़े-लत्ते के, पता नहीं कहाँ ग़ायब हो गया!

यद्यपि यह कोरी एक दंतकथा है तथापि यह सत्य है कि गाइसर के मुख में मिट्टी का एक ढेला भी गिर

पड़ने से उसका उफ़ान आरम्भ हो जाता है। कभी-कभी तो इसी कारण बड़े वेग से उद्गार भी आरम्भ हो जाता है। यलोस्टोन पार्क में सरकार की ओर से इसी कारण गाइसरों में साबुन आदि पदार्थों को गिराने की कठोर निषेधाज्ञा है। इस प्रकार गाइसरों की शक्ति को क्षय होने से बचाया जाता है। अन्यथा लोगों ने पार्क में पहुँचकर गाइसरों में साबुन फेंक-फेंककर उनके उद्गार का आनन्द लेना एक तमाशा-सा बना रक्खा था।

गाइसरों से उफननेवाले जल के विषय में कुछ लोगों का यह विश्वास है कि वह धरातलीय जल जो भूमि में सोख जाता है, चट्टानों में उतरता हुआ, ज्वालामुखी क्षेत्र की भीतरी गरमी से खौलकर चट्टानों की दरारों के रास्ते पुनः ऊपर आ जाता है। कुछ लोगों का विश्वास है कि भूगर्भ में ही ठण्डी हो जानेवाली आग्नेय चट्टानों से निकला हुआ जल भाप के रूप में ऊपर उठता है और गाइसर के उद्गार के रूप में प्रकट होता है। चाहे जो भी हो परन्तु एक बात निर्विवाद सत्य है कि गाइसरों के उद्गार ज्वालामुखी की शक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। आइसलैण्ड और न्यूज़ीलैण्ड के गाइसर आजकल भी प्रचंड रूप से जाग्रत ज्वालामुखी के क्षेत्रों में स्थित हैं। यलोस्टोन पार्क के गाइसर भी ऐसे क्षेत्र में हैं जो अभी हाल ही में प्रचण्ड ज्वालामुखियों का प्रदेश रह चुका है और इन गाइसरों का उद्गार ज्वालामुखियों की शक्ति का अवशेष चिह्न है।

गाइसरों पर भूकंप की विचित्र प्रतिक्रिया होती है। आइसलैण्ड का स्टोक्र नामक गाइसर सन् १७८६ ई० में भूकंप के समय अचानक प्रकट हुआ। १८६६ तक इसका समय-समय पर उद्गार होता रहा। परन्तु उस वर्ष के भूकंप ने इसका अन्त करके एक दूसरे गाइसर को उत्पन्न किया। इसका उद्गार यद्यपि बहुत वेगपूर्ण था तथापि इसका जीवन बहुत ही क्षणिक रहा। प्रथम उद्गार ही के पश्चात् इसका अन्त हो गया। उद्गार के समय भाप और खौलते पानी का फ़ुहारा ६०० फ़ीट की ऊँचाई तक उठा और उसके ज़ोर से अनेक शिला-खण्ड भी वायु में बड़ी ऊँचाई तक उछले। पर कुछ घंटों ही के पश्चात् फ़ुहारा बन्द हो गया और केवल १०-१२ फ़ीट ऊँची जलधारा उछलती रही। थोड़े समय पश्चात् यह भी शान्त हो गई और उसके साथ ही गाइसर का जीवन भी शेष हो गया।

'धुआँरे' अथवा 'फ्युमरोल'

जिन प्रदेशों में गाइसर पाए जाते हैं उनमें तथा ज्वालामुखी पर्वतों के अन्य क्षेत्रों में धरातल से चट्टानों की दरारों और छिद्रों से भाप और धुएँ के घने बादल उठते पाए जाते हैं। ज्वालामुखी पर्वतों के सुषुप्त हो जाने पर भी उनके मुख-गर्तों से तथा उनके शंकुओं के पार्श्वों की दरारों से भाप और गैसों का धुआँ बराबर इस प्रकार निकलता मालूम होता है जैसे ईंटों के भट्ठों की चिमनियों से निकला करता है। इसी प्रकार लावा के मोटे स्तरों की दरारों से भी धुएँ के बादल उठते देखे जाते हैं। जाग्रत ज्वालामुखी के क्षेत्रों अथवा सुषुप्त ज्वालामुखी प्रदेशों में, इस प्रकार भाप और धुआँ

न्यूज़ीलैण्ड के गाइसर-प्रदेश में मावरी जाति की महिलाएँ इसी तरह सोतों के उबलते हुए जल में, बिना चूल्हा या ईंधन के, अपना खाना पका लिया करती हैं।

उगलनेवाली चिमनियों का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं है। परन्तु इस प्रकार के धुआँरे ऐसे क्षेत्रों में भी पाए जाते हैं जहाँ ज्वालामुखी के उद्गार के कोई भी चिह्न देखने में नहीं आते। इन धुआँरों से भाप के बादल कभी तो वेग से और कभी धीरे-धीरे निकलते रहते हैं। इनको फ़्युमरोल (Fumaroles) के नाम से पुकारा जाता है, पर हम इनको धुआँरा ही कहेंगे। इनमें से निकलनेवाले धुएँ का ८० प्रतिशत अंश बहुधा भाप होता है। शेष १० प्रतिशत में कार्बन डाइआक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड, हाइड्रोजन सल्फ़ाइड, और मीथेन, आदि गैसों का मिश्रण रहता है। कुछ धुआँरों से विशेष रूप से गन्धक का ही धुआँ निकलता है। ये धुआँरे 'गन्धकीय' (Solfatara) कहलाते हैं।

उपरोक्त गैसों के अतिरिक्त कुछ धुआँरों से निकलनेवाले धुएँ के साथ-साथ लोहा, ताँबा, सीसा आदि धातुओं के खनिज और रासायनिक यौगिक भी पाए जाते हैं, जो बहुधा धुआँरों की दरारों और उनके मुख के चारों ओर जमा हो जाते हैं। हिमेटाइट (Hematite) नामक लोहे और ऑक्सीजन का यौगिक खनिज इस प्रकार के एकत्रित हुए पदार्थों में सबसे अधिक सुलभ है। विसुवियस के एक उद्गार के समय एक तीन फ़ीट चौड़े मुखवाले धुआँरे की दरार थोड़े ही समय में इस खनिज के जमा हो जाने से पूर्णतया भर गई थी। सीसे का प्रमुख खनिज गैलिना (Galena) भी बहुधा विसुवियस के क्षेत्र के धुआँरों में 'लेड-क्लोराइड' और 'हाइड्रोजन-सल्फ़ाइड' की रासायनिक प्रक्रिया से उत्पन्न होकर पाया जाता है।

आइसलैंड के निवासियों ने अपने यहाँ के गरम जल के सोतों पर इसी प्रकार धोबी-घाट बना रक्खे हैं। सोते के मुखगर्त्त पर लोहे का जँगला इसलिए लगा दिया जाता है ताकि कोई गड्ढे में गिरकर ज़िंदा ही उबलते पानी में पक न जाय।

कुछ धुआँरों से निकलनेवाली भाप और धुआँ अत्यधिक तप्त होते हैं। एलास्का के काटमाई नामक ज्वालामुखी के १९१२ के उद्गार के पश्चात् जो 'दस सहस्र लौ वाली घाटी' उत्पन्न हो गई है (देखिए अंक १७), उसमें से निकलनेवाली गैसों का तापक्रम ६४५० शतांश तक पाया जाता है। यह धुआँराक्षेत्र काटमाई के प्रसिद्ध मुखगर्त में है।

यलोस्टोन पार्क में भी असंख्य धुआँरे हैं और उनमें से भी गन्धक का धुआँ और भाप निरन्तर निकलती रहती है। यहाँ गाइसरों की अपेक्षा धुआँरों की संख्या अधिक है। गाइसरों के प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी, जहाँ ज्वालामुखी हैं अथवा कभी रह चुके हैं, धुआँरे पाए जाते हैं।

कुछ धुआँरों से, जो शान्त ज्वालामुखी के मुखगर्त में अथवा उसके क्षेत्र के आसपास होते हैं, कार्बन डाइऑक्साइड गैस का उद्गार विशेष रूप से होता है। यह गैस वायु से अधिक भारी होने के कारण शान्त वातावरण के समय धुआँरों से निकलकर धरती पर फैल जाती है और पास के नीचे स्थलों में भर जाती है। निःस्वाद, गन्धहीन और अदृश्य होने के कारण यह पता नहीं चल पाता कि किन गड्ढों में यह गैस भर गई है। जिन गड्ढों में यह भर जाती है वे पशुओं के लिए, जो भूले-भटके इनमें आ फँसते हैं, 'मृत्यु-कुण्ड' बन जाते हैं। इनके भीतर फँसे हुए पशु जिस प्रकार छटपटाकर मरते हैं उससे प्रकृति की एक विचित्र दानवी लीला का बोध होता है।

धुआँरों के क्षेत्रों में खौलते पानी के सोते भी बहुधा पाए जाते हैं। बहुत-से क्षेत्रों में तो धुआँरों और खौलते पानी के सोतों में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि ग्रीष्म-ऋतु में खौलते पानी के सोतों में पानी के स्थान पर भाप और गैसों का उद्गार होने लगता है, और गरम पानी का सोता धुआँरा बन जाता है। शरद् ऋतु के आते ही यही धुआँरा फिर खौलता पानी बहाने लग जाता है। गाइसर वास्तव में खौलते पानी के सोतों और धुआँरों का विचित्र मिश्रित रूप है, जिससे भाप और खौलते पानी दोनों ही का उद्गार होता है और दोनों की मिश्रित शक्ति से फुहारा
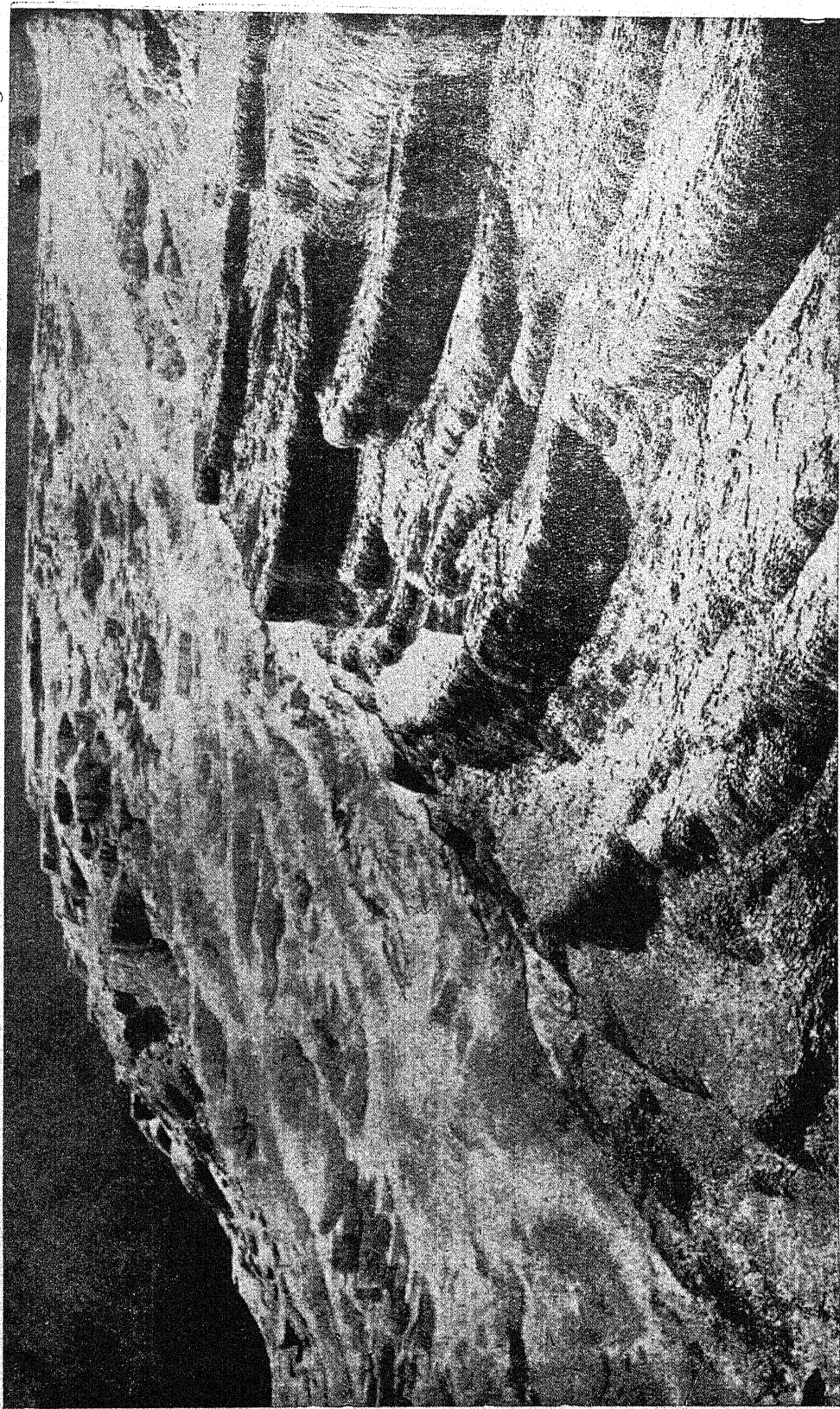
गरम जल के सोतों की करामातों का एक अद्‌भुत नमूना—यलोस्टोन नेशनल पार्क की विशाल 'प्राकृतिक सीढ़ियाँ'

यह विचित्र सोपान-श्रेणी इस प्रदेश के तप्त जल के सोतों में से पानी के साथ-साथ निकले हुए खनिज द्रव्यों के संग्रह, विशेषतया चूने के कणों की तलछट के जमाव के फलस्वरूप बन गई है और इसे देखने के लिए दूर-दूर से यात्री पहुँचते हैं।
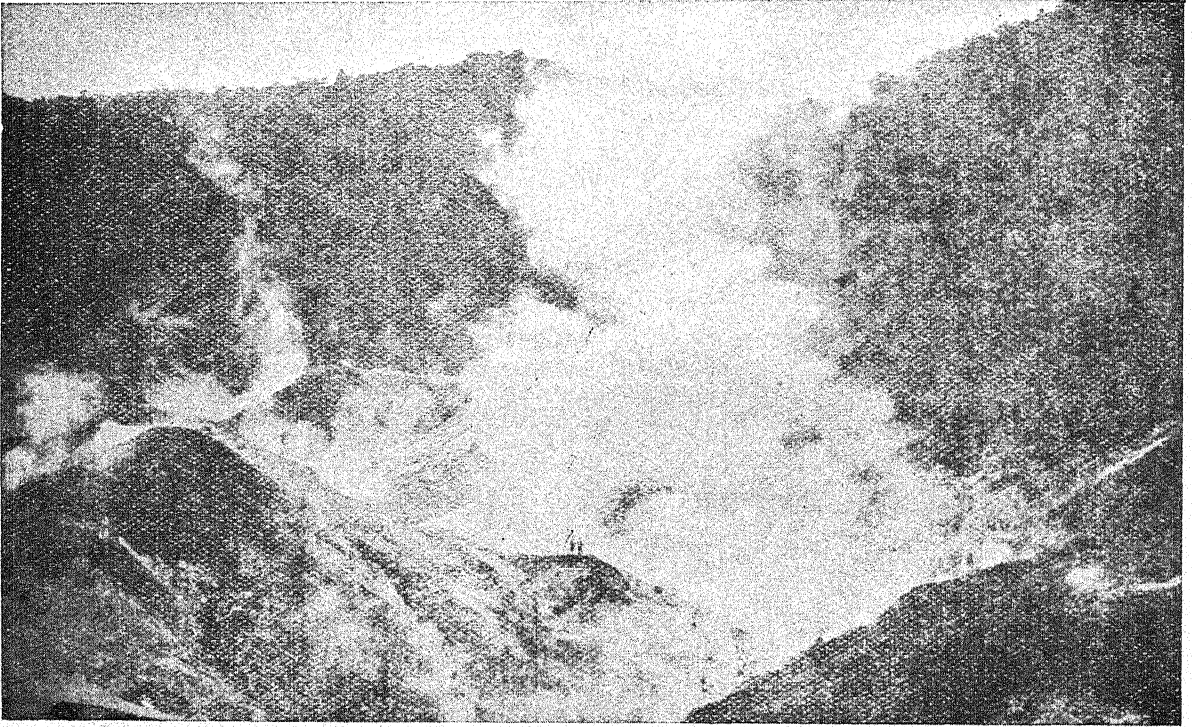
संयुक्त-राष्ट्र के इदाहो प्रान्त के एक गरम जल के सोतोंवाले प्रदेश में धुआँरों (फ्यूमरोल) का दृश्य
धरती में से निरंतर निकलते रहनेवाले इन धुएँ के बादलों के विस्तार का कुछ अंदाज आप सामने एक कगार पर खड़ी दो मानव-मूर्त्तियों से लगा सकते हैं।

छूटता है—उसी प्रकार जिस प्रकार कि कुछ ज्वालामुखियों से कभी तो विस्फोटक-उद्गार, कभी लावा का शान्त प्रवाह और कभी दोनों प्रकार के उद्गार होने लगते हैं।

आधुनिक काल में धुआँरों से निकलनेवाली भाप को औद्योगिक कार्यों के लिए उपयोग में लाने की कई योजनाएँ की गई हैं। रोम के उत्तर में टस्केनी के धुआँराक्षेत्र की भाप से बिजली उत्पन्न करने की योजना सबसे पहले की गई। ६०० फ़ीट गहरे कुएँ खोदकर अधिक तापक्रमवाली भाप का अधिक मात्रा में संचय किया गया है। इससे १६००० हार्स पावर की शक्ति उत्पन्न की गई है और यह बिजली ६० मील दूर फ्लोरेंस, पिसा तथा दूसरे नगरों को ले जाई जाती है।

केलिफ़ोर्निया के कोस्टरेंज में 'गाइसर्स' (Geysers) नामक स्थान पर, जो सेन फ्रेंसिस्को से ४० मील दूर है, ३५ एकड़ भूमि में कुछ क्षीण धुआँरे और कुछ छोटे, परन्तु अत्यधिक तापवाले, पानी के सोते (कुण्डों के रूप में) पाए जाते हैं। इस क्षेत्र का नाम गाइसर्स सर्वथा अनुपयुक्त है, क्योंकि यहाँ एक भी गाइसर नहीं है और न इन कुण्डों में से किसी में कभी उद्गार होता देखा गया है। १६२१ में इस क्षेत्र में शक्ति उत्पन्न करने के लिए गहरे कुएँ खोदने की योजना बनाई गई। इन कुओं में भाप एकत्रित करने का विचार था, जिससे उसकी शक्ति, मात्रा और ताप अधिक-से-अधिक मिल सके। यह योजना बहुत अधिक सफल हुई है। अब तक आठ कुएँ खोदे जा चुके हैं, जिनमें से एक की गहराई ६५० फ़ीट है। यही सबसे गहरा है। इससे अत्यधिक भाप निकलती है।

जावा के धुआँरों के क्षेत्रों में भी शक्ति उत्पन्न करने के लिए अच्छी सामग्री है। १६२६ में यहाँ एक प्रयोगात्मक कुआँ खोदा गया था। इसकी गहराई २२० फ़ीट थी। इसी से इतनी भाप निकली कि १२०० हार्सपावर शक्ति उससे उत्पादित की जा सकती थी।

पंक-ज्वालामुखी

खौलते पानी के सोतों के प्रदेश में सूक्ष्म आकार के कुछ ऐसे शंकु भी देखने में आते हैं, जिनके मुखगर्त से यदा-कदा भाप और पानी के उद्गार के स्थान पर कीचड़ का उद्गार होता है, साथ ही थोड़ी भाप और कुछ जल भी निकलता रहता है। इन शंकुओं का निर्माण इसी कीचड़ और मिट्टी द्वारा होता है। विभिन्न खनिजों और रासाय-

निक पदार्थों के मिश्रण से इन शंकुओं से निकलनेवाला पंक लाल, पीला, काला तथा सफ़ेद होता है और इस कारण लोग इन छिद्रों को, जिनसे पंक का उद्गार होता है, 'रंग का गढ़ा' या 'पंक का गढ़ा' कहते हैं।

इन गढ़ों की उत्पत्ति वास्तव में खौलते पानी के सोतों में अपर्याप्त जल के होने से होती है। जब तक सोते में जल पर्याप्त रहता है, उससे खौलता पानी उफन-उफनकर बहता रहता है। जब सोते में आभ्यंतरिक जल का आना कम हो जाता है तब पानी का उफ़नना बन्द हो जाता है, परन्तु वाष्पीकरण के कारण गढ़े के जल में कमी होती रहती है। धीरे-धीरे जल की कमी से पानी में गँदलापन बढ़ने लगना है, क्योंकि उसमें पाषाणों की चूरचार की मात्रा अधिक हो जाती है। थोड़े ही काल पश्चात् यह गँदलापन कीचड़ का रूप धारण कर लेता है और कीचड़ दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक गाढ़ा होता जाता है। अधिक गाढ़ा और सूखा हो जाने से कीचड़ की पपड़ी कड़ी हो जाती है और उसका खौलना बन्द हो जाता है। कड़ी पपड़ी के नीचे जब कभी भाप का वेग बढ़ जाता है तब वह इसे उछालकर ऊपर फेंक देती है। इस उद्गार के समय भाप, कीचड़ और कभी-कभी पाषाण-खण्ड भी निकलते हैं। भाप का वेग कम होते ही पंक फिर जमने लगता है और फिर भाप का वेग बढ़ने से पंक का उद्गार होता है। इस उद्गार में भी भाप के कारण धड़ाके होते हैं। इस प्रकार के सोते 'पंक-ज्वालामुखी' कहलाते हैं। ब्रह्मदेश के अराकान तट पर तथा इरावदी नदी की घाटी में एवं बलूचिस्तान के मकरान तट पर इस प्रकार के पंक-ज्वालामुखी देखने में आते हैं। इनसे कभी-कभी ज्वाला भी निकलती देख पड़ती है। ब्रह्मदेश के पंक-ज्वालामुखियों का सम्बन्ध पेट्रोल की खानों (कुओं) की गैसों से बताया जाता है, जो समय-समय पर वेग बढ़ जाने से धरातल की ओर ऊपर निकलने की चेष्टा करती हैं और अपने साथ पंक एवं धूल उड़ाती हुई निकलती हैं। इन्हीं गैसों के प्रज्वलन से ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि ये गैसें अत्यधिक प्रज्वलन-शील होती हैं। पंक-ज्वालामुखी के शंकु कहीं-कहीं ३०० फ़ीट की ऊँचाई तक पहुँचते देखे गए हैं।
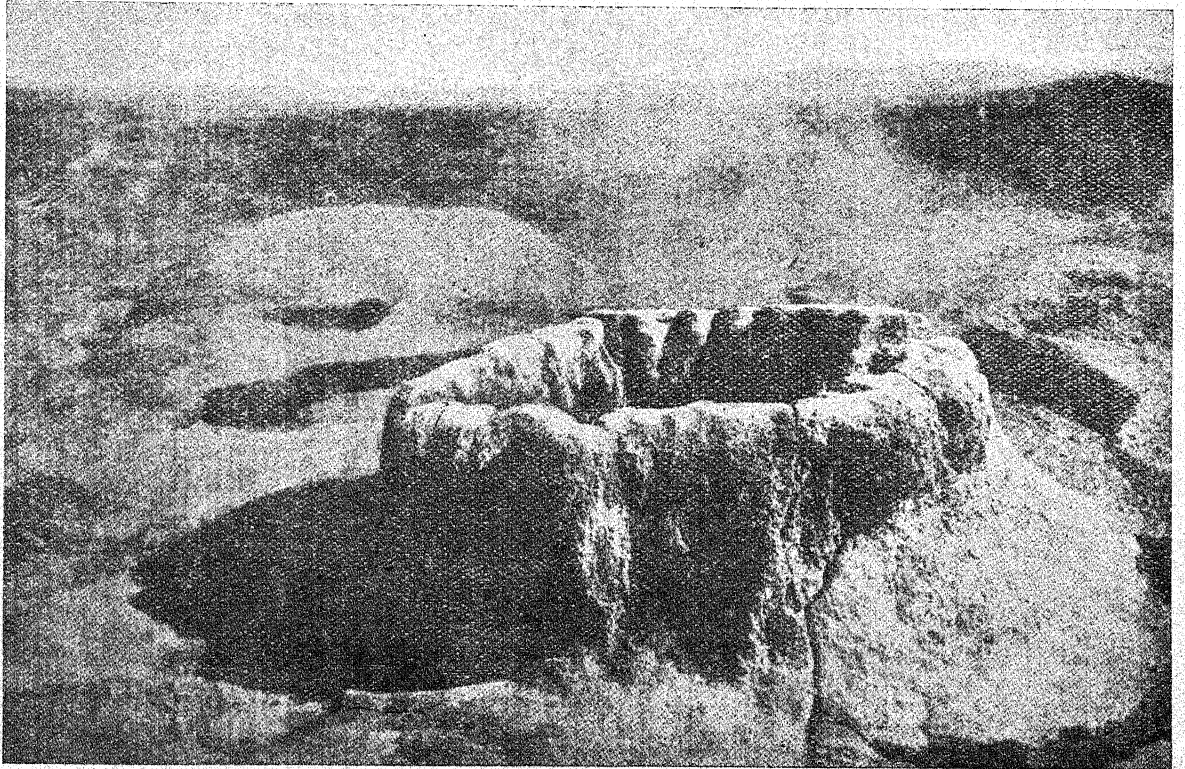
न्यूज़ीलैण्ड के व्हाकारेवारेवा नामक स्थान के एक प्रसुप्त गाइसर का मुखगर्त्त

मुखविवर के चारों ओर शंकु की ऊँची दीवार जल और भाप के साथ-साथ निकलनेवाले खनिज द्रव्यों के जमा होने से बन गई है।
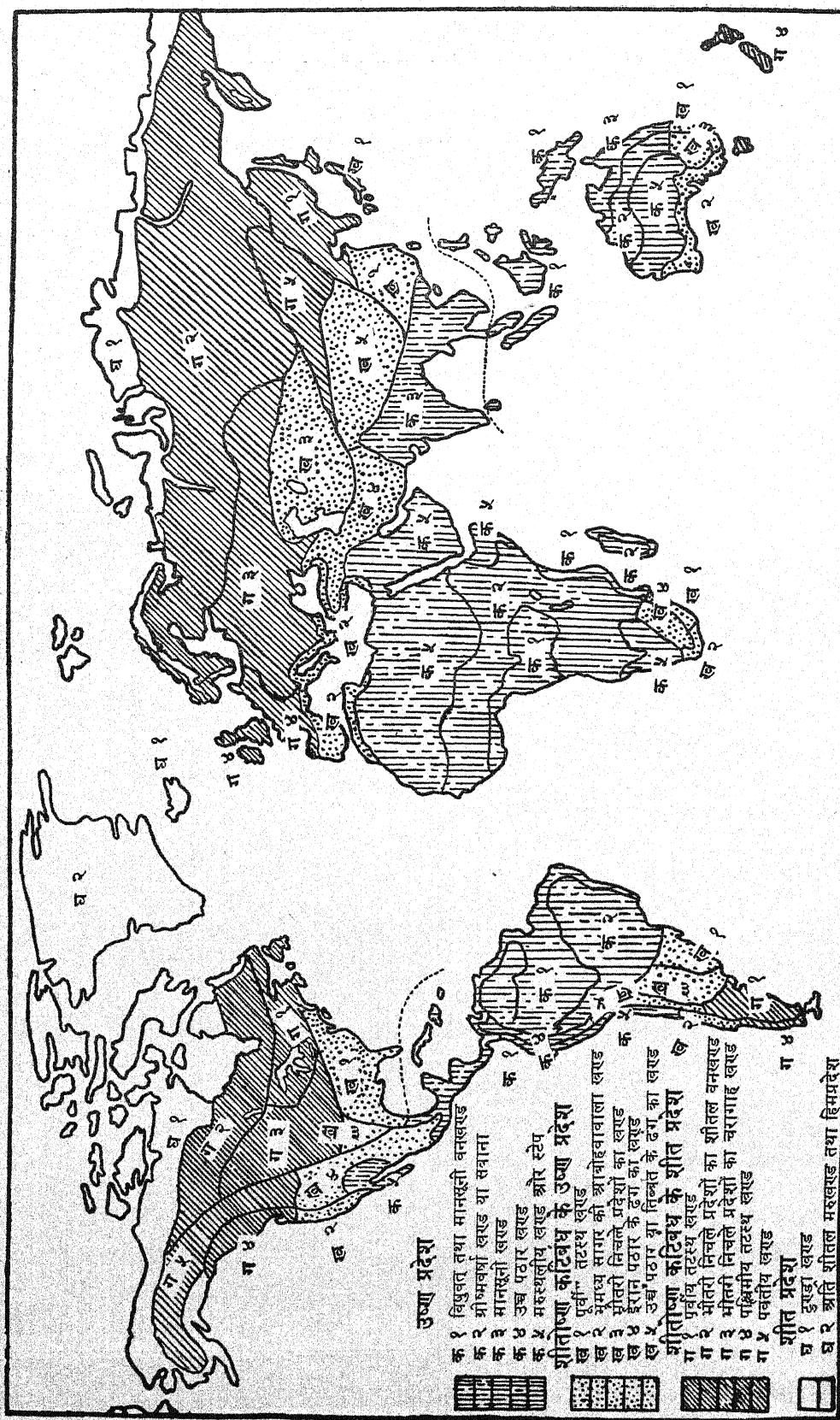
धरातल के प्रधान प्राकृतिक खण्ड

प्रस्तुत मानचित्र में जलवायु तथा अन्य विशेषताओं में समानता रखनेवाले धरातल के चार प्रकार के मुख्य प्रदेश अलग-अलग चार प्रकार के निर्देशक चिह्नों द्वारा दिखाए गए हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेश के उपखण्ड भी क१, क२, क३ जैसे वर्ग-चिह्नों द्वारा प्रदर्शित किए गए हैं।
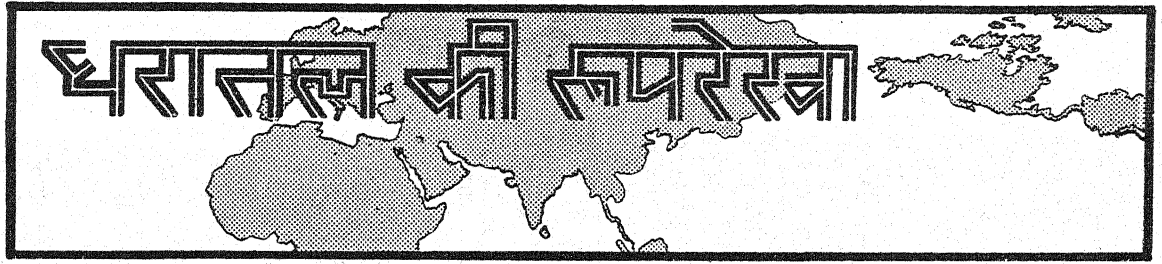
धरती के प्रधान प्राकृतिक खण्ड

जनसाधारण की दृष्टि में तो धरती के नक़शे पर चित्रित एशिया, अमेरिका, योरप आदि भूखंड ही पृथ्वी के प्रधान प्राकृतिक खण्ड हैं, किन्तु वैज्ञानिकों की दुनिया में इन महाद्वीपों के अतिरिक्त धरातल का एक और ढंग से भी वर्गीकरण किया गया है और उसे ही भूगोल-शास्त्र में अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस वर्गीकरण के अनुसार धरती के कौन-कौन-से विभाग माने गए हैं, प्रस्तुत लेख में पढ़िए !

धरातल के उन विस्तृत क्षेत्रों को जिनकी स्थिति, बनावट, जलवायु, उपज और मानव-जीवन की विशेषताएँ समान या लगभग समान हैं, हम कतिपय खण्डों में विभाजित कर सकते हैं। इन खण्डों को भूगोल-शास्त्री 'धरातल के प्रधान प्राकृतिक खण्ड' के नाम से पुकारते हैं।

जिस प्रकार जलवायु के आधार पर विभाजित किए गए प्रदेशों की, एक प्रदेश को दूसरे प्रदेश से अलग करने-वाली, कोई प्राकृतिक सीमा नहीं हो सकती, उसी प्रकार प्रधान प्राकृतिक खण्डों को भी अलग करनेवाली कोई निश्चित सीमा नहीं हो सकती। एक खण्ड के क्षेत्र से दूसरे खण्ड के क्षेत्र में पहुँचने पर पहले खण्ड की विशेषताएँ सहसा ही विलुप्त नहीं हो जातीं, वरन् शनैः-शनैः इन विशेषताओं का रूपान्तर दूसरे खण्ड की विशेषताओं में होता है। मनुष्य, पशु और वनस्पतियाँ, सभी परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको बदलते जाते हैं। यद्यपि मनुष्य ने अपने प्रयत्नों से बहुत-से क्षेत्रों का प्राकृतिक स्वरूप बदल दिया है तथापि प्रधान प्राकृतिक खण्डों की स्थिति पर उसका प्रभाव नगण्य-सा पड़ा है। मनुष्य के न होने से प्राकृतिक खण्डों की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आ सकता। परन्तु एक खण्ड के क्षेत्रों से दूसरे खण्ड के क्षेत्रों में पहुँचने पर परिस्थि-तियों का जो परिवर्तन होता है उसका प्रभाव मानव-जीवन पर बहुत अधिक पड़ता है। इन परिस्थितियों का सबसे महत्व का अंश जलवायु है, जिसके ऊपर किसी भी खण्ड की वनस्पतियों की उपज निर्भर है। वनस्पतियाँ ही मानव-जीवन का आधार हैं। वनस्पतियों की उत्पत्ति के लिए जलवायु का जो सबसे महत्वपूर्ण अंश है वह है 'ताप', क्योंकि ताप पर ही वर्षा का होना-न होना निर्भर है। भौगोलिक स्थिति भी ताप के समान ही महत्व रखती है। इसलिए प्रधान प्राकृतिक खण्डों का विभाजन ताप तथा भौगोलिक स्थिति के अनुसार 'उष्ण', 'शीतोष्ण' तथा 'शीत' कटिबन्धों के आधार पर निम्न-प्रकार से किया गया है—

अ—उष्ण प्रदेश

१—विषुवत् तथा मानसूनी वनखण्ड (Equatorial type)

२—ग्रीष्मवर्षा अथवा 'सवाना' खण्ड (Summer Rain or Savanna Type)

३—मानसूनी खण्ड

४—उच्च पठार खण्ड

५—मरुस्थलीय खण्ड और स्टेप

ब—शीतोष्ण कटिबन्ध के उष्ण प्रदेश

१—पूर्वीय तटस्थ खण्ड

२ – भूमध्यसागर की आबोहवावाला खण्ड

३—भीतरी निचले प्रदेशों का खण्ड

४—ईरान पठार के ढंग का खण्ड

५—उच्च पठार या तिब्बत के ढंग का खण्ड

स—शीतोष्ण कटिबन्ध के शीत प्रदेश

१—पूर्वीय तटस्थ खण्ड

२—भीतरी निचले प्रदेशों का शीतल वनखण्ड

३—भीतरी निचले प्रदेशों का चरागाह खण्ड

४—पश्चिमीय तटस्थ खण्ड

५—पर्वतीय खण्ड

द—शीत प्रदेश

१—टुण्ड्रा खण्ड

२—अति शीतल मरुखण्ड तथा हिमप्रदेश

अ—उष्ण प्रदेश

(१) **विषुवत् तथा मानसूनी वनखण्ड**—इसका विस्तार विषुवत् रेखा के आस-पास उत्तर और दक्षिण दोनों ओर है। इस खण्ड के प्रधान क्षेत्र अमेज़न और कांगो नदियों की तलहटियाँ, मलाया और पूर्वीय द्वीपसमूह, दक्षिणी अमेरिका का उत्तरी-पूर्वीय तट, दक्षिणी अफ़्रीका का पूर्वीय तट तथा मेडागास्कर द्वीप का पूर्वीय तट है। अत्यधिक धूप और बारहों महीने वर्षा की झड़ी लगी रहना यहाँ की जलवायु की विशेषता है। यहाँ की भूमि घने वनों से ढकी है। मलाया और पूर्वीय द्वीप-समूह के वन अमेज़न और कांगों के वनों की अपेक्षा कम घने हैं।

(२) **ग्रीष्म वर्षा खण्ड अथवा 'सवाना' प्रदेश**—विषुवत् मानसूनी वनखण्ड के उत्तर और दक्षिण की भूमि हरे-भरे घास के मैदानों से भरी है। ये मैदान 'सवाना' (Savanna) या तृणक्षीया कहलाते हैं। इनका विस्तार दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया महाद्वीपों में है। अफ़्रीका के इस खण्ड को सूदान खण्ड कहते हैं। भारतवर्ष, पूर्वीय द्वीपसमूह के ऊँचे स्थल तथा ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी-पूर्वीय भागों में भी इस खण्ड की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इस खण्ड में केवल ग्रीष्म ऋतु में वर्षा होती है। शरदऋतु यहाँ सूखी होती है।

(३) **मानसूनी खण्ड**—यह खण्ड भारत, इण्डोचीन, दक्षिणी चीन तथा ऑस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग में फैला है। इस खण्ड में मानसून हवाओं से नियत ऋतु में वर्षा होती है। इस खण्ड के कुछ भागों में, जहाँ वर्षा की मात्रा ८० इञ्च से अधिक होती है, विषुवत् मानसूनी खंड के वनों के सदृश वन पाए जाते हैं। जहाँ वर्षा का औसत ४०–८० इञ्च वार्षिक रहता है, वहाँ की भूमि भी वनों से ढकी है; परन्तु ये वन इतने घने नहीं होते जितने विषुवत् वनखण्ड के। इस खण्ड के शेष भागों में खेती ही लोगों का प्रमुख व्यवसाय है। खेती का तार बारहों महीने बँधा रहता है। यह खण्ड संसार के सबसे अधिक घने बसे हुए खण्डों में से प्रधान है।

(४) **उच्च पठार खण्ड**—यह खण्ड दक्षिणी अमेरिका के इक्वेडर और कोलम्बिया नामक प्रदेशों के ऊँचे पठारों में ही मुख्यतः फैला है। इसकी स्थिति विषुवत रेखा पर होते हुए भी, ऊँचाई के कारण यहाँ पर विषुवत् वनखण्ड की अपेक्षा कम गर्मी पड़ती है। ताप बहुधा बारहों महीने समान रहता है। वर्षा कम होती है और केवल निश्चित ऋतुओं में। कहा जाता है कि यहाँ पर सदैव वसन्त-बहार रहती है। खेती कम होती है और जहाँ होती है वहाँ केवल गेहूँ और जौ की, जिनका भी पकना कठिन हो जाता है। भेड़-बकरियों का पालन ही यहाँ की जीविका का मुख्य साधन है।

(५) **मरुस्थलीय खण्ड और स्टेप**—३०° उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशों के उच्चभार प्रदेशों से विषुवत् रेखा के निम्नभार प्रदेश की ओर चलनेवाली हवाएँ जैसे-जैसे आगे बढ़ती हैं वैसे-वैसे गरम और सूखी होती जाती हैं, क्योंकि ये ठण्डे प्रदेश से उष्ण प्रदेश की ओर चलती हैं। सूखी होने के कारण ये अपने मार्ग में वर्षा नहीं करतीं वरन् उसको सुखाती जाती हैं। इस कारण महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में, उष्ण-कटिबन्ध के उत्तर और दक्षिण दोनों ओर, मरुस्थल पाए जाते हैं। उत्तरी अफ़्रीका के पूर्व में विशाल स्थल-प्रदेश होने के कारण यह मरुस्थल (सहारा) महाद्वीप के एक ओर से दूसरी ओर तक चला गया है और अरब तक फैला है। मध्य एशिया में भी इसी का सिलसिला चला गया है। उत्तरी अमेरिका के पश्चिम में कोलोरैडो, मोहेव और गिला मरुस्थल इसी सहारा-खण्ड के क्षेत्र हैं। दक्षिणी अमेरिका का अटाकामा मरुस्थल, दक्षिणी अफ़्रीका का कालाहारी मरुस्थल तथा ऑस्ट्रेलिया का विशाल मरुस्थल भी इसी खण्ड के अन्तर्गत हैं।

मरुस्थल की भूमि उपजाऊ होती है, परन्तु जल के अभाव में वहाँ खेती कहीं-कहीं ही हो पाती है—सो भी वहाँ ही जहाँ जल का कुछ-न-कुछ प्रबन्ध है। जाड़ा अधिक न होने से यहाँ खेती बारहों महीने हो सकती है यदि सिंचाई के लिए पर्याप्त जल मिल सके। नील, सिन्धु तथा कोलोरैडो नदियों के आस-पास की भूमि इसी कारण मरुस्थल होते हुए भी अति उपजाऊ है। मरुस्थलों में खनिज पदार्थों की भी अधिकता पाई जाती है। इसी लालच में लोग मरुस्थलों को आबाद करते हैं। यातायात के साधनों की यहाँ सबसे बड़ी कठिनाई पड़ती है। ऊँट ही इस खण्ड की मुख्य सवारी के काम में आता है।

ब—शीतोष्ण कटिबन्ध के उष्ण प्रदेश

१—**पूर्वीय तटस्थ खण्ड**—इस खण्ड की जलवायु की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ पर गरम ऋतु में वर्षा होती है तथा यहाँ का जाड़ा सूखा और विशेष ठंडा होता है। मध्य चीन और उत्तरी चीन इस खण्ड के विशेष क्षेत्र हैं। जापान एवं संयुक्त राष्ट्र

(अमेरिका) का दक्षिण-पूर्वीय भाग भी इसी खण्ड के अन्तर्गत है। दक्षिणी गोलार्द्ध में अफ्रीका के नैटाल तथा केप प्रान्त का पूर्वीय तट, न्यू साउथ वेल्स तथा क्वीन्सलैण्ड का दक्षिणी प्रान्त और ब्रेज़िल का दक्षिण-पूर्वीय प्रान्त भी इसी खण्ड के क्षेत्र हैं।

इस खण्ड के उत्तरी गोलार्द्ध के क्षेत्रों की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध के क्षेत्रों में कम गरमी पड़ती है और सरदी भी कम। दक्षिणी गोलार्द्ध के खण्ड में 'सदाबहार' वन विशेष रूप से पाए जाते हैं। यहाँ चावल, गन्ना, कपास, तम्बाकू और चाय की खेती विशेष रूप से होती है। उत्तरी गोलार्द्ध के खण्ड में घनी आबादीवाले प्रदेश पाए जाते हैं और खेती के अतिरिक्त लोग अन्य उद्योग-धंधों में भी व्यस्त रहते हैं।

२—भूमध्यसागर की आबोहवावाला खण्ड—इसका विस्तार मुख्यतः भूमध्यसागर के चारों ओर है। इसके अतिरिक्त ३५°–३८° अक्षांश के पश्चिम तटीय प्रदेशों में भी, जैसे मध्य केलिफ़ोर्निया, मध्य चिली, दक्षिण अफ्रीका के दक्षिण-पश्चिमी तट तथा ऑस्ट्रेलिया के दक्षिण-पश्चिमी भाग में, इसका प्रसार है।

इस खण्ड की विशेषता यह है कि यहाँ फलवाले पेड़ों की फ़सल ही अधिक उपजती है। नींबू, नारंगी और शहतूत यहाँ के प्रमुख फल हैं। इस खण्ड की भूमि प्रायः पहाड़ी है, जिसमें उपजाऊ भूमि की कमी रहती है। खनिज पदार्थों का अभाव यहाँ विशेष रूप से पाया जाता है। यहाँ की नदियों में झरने बहुत पाए जाते हैं और इन झरनों से विद्युतोत्पादन की जाती है, जिसकी सहायता से उद्योग-व्यवसाय चलता है।

३—भीतरी निचले प्रदेशों का खण्ड—इस खण्ड का विस्तार मुख्यतः तूरान के मैदान में है। आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमेरिका तथा दक्षिणी संयुक्त राष्ट्र के दक्षिणी भागों के भीतरी प्रदेश भी इस खण्ड के अन्तर्गत हैं। इस खण्ड की भूमि नीची है। यहाँ कड़ी गरमी पड़ती है और सरदी भी कड़ी होती है। वर्षा की मात्रा यहाँ कम रहती है। इस कारण वृक्षों का पनपना कठिन हो जाता है। परन्तु इतनी वर्षा में घास ख़ूब उगती है। इसलिए यह प्रदेश चरवाहों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जहाँ वर्षा का औसत १२ इंच वार्षिक से अधिक रहता है वहाँ गेहूँ आदि अनाज पैदा होते हैं, जैसे दक्षिणी अमेरिका के पम्पा नामक मैदानों में और आस्ट्रेलिया की मरे नदी के मैदान में। तूरान फल और कपास के लिए प्रसिद्ध है।

४—ईरान पठार के ढंग का खण्ड—यह खण्ड निचले पठार-प्रदेशों से मिलकर बना है, जैसे ईरान का पठार, एशिया माइनर और तारिम की तलहटी। यहाँ की जलवायु भीतरी निचले प्रदेशों के खण्ड से मिलती-जुलती है। परन्तु यहाँ गरमी उतनी नहीं पड़ती और सरदी भी कुछ अधिक पड़ती है। एशिया के अतिरिक्त इस खण्ड का विस्तार रॉकी और सियरा निवेदा पर्वतों के बीच के पठार-खण्ड, मैक्सिको के पठार के कुछ अंश तथा दक्षिणी अफ्रीका के वेल्ड (Veld) प्रदेशों में भी है। यहाँ भी घास के मैदान विशेष रूप से पाए जाते हैं और लोगों का मुख्य पेशा पशुपालन है।

५—उच्च पठार या तिब्बत के ढंग का खण्ड—बहुत अधिक ऊँचाई (१२०००–१४००० फ़ीट) और जाड़े की अधिकता इस खण्ड की विशेषताएँ हैं। यहाँ खेती बहुत कम हो सकती है। चराई ही यहाँ का मुख्य व्यवसाय है। लोग भेड़-बकरी आदि के पालन का काम करते हैं। इनका मांस खाने के काम में आता है। खाल और ऊन के कपड़े बनते हैं। तिब्बत का याक और बोलीविया पठार का लामा नामक पशु इस खण्ड में बोझा ढोने के लिए ऊँट, टट्टू या बैल का-सा काम देते हैं। तिब्बत के अतिरिक्त इसका विस्तार दक्षिणी अमेरिका में भी है। परन्तु बोलीविया के पठार में तिब्बत की अपेक्षा सरदी कम पड़ती है और अनाज की भी उपज कुछ हो जाती है। यहाँ आलू विशेष रूप से पैदा होता है।

ख—शीतोष्ण कटिबन्ध के शीत प्रदेश

१—पूर्वीय तटस्थ खण्ड—उत्तरी गोलार्द्ध में इसका विस्तार पूर्वी कनाडा, मंचूरिया, उत्तरी चीन, उत्तरी जापान, और कोरिया देशों में है। दक्षिणी गोलार्द्ध में इसका विस्तार पैटागोनिया (दक्षिणी अमेरिका) प्रदेश में है। इस खण्ड में जाड़ा अधिक पड़ता है और गरमी भी अधिक होती है। वर्षा साधारण होती है और बहुधा आँधी और तूफ़ान चला करते हैं, जिनके साथ वर्षा के झोंके भी आते हैं। जाड़ों में नदियों पर बर्फ़ जम जाती है। घास की प्रधानता और शीतलता के कारण यहाँ दूध का व्यवसाय अधिक होता है। यहाँ आबादी घनी नहीं है। इसीलिए यहाँ से दूध बाहर भेजा जाता है। दूध का पनीर भी बहुत बनता है। साथ ही सेब आदि फल भी यहाँ पैदा होते हैं।

२—भीतरी निचले प्रदेशों का शीतल वनखण्ड—इनको दो विशाल खण्डों में विभाजित किया जाता है। ये खण्ड

शीतल वनखण्ड और शीतल शाद्वल भूमिखण्ड कहलाते हैं तथा उत्तरी गोलार्द्ध के महाद्वीपों के उत्तरी भाग में फैले हैं। शीतल वनखण्ड उत्तरीय गोलार्द्ध के स्थलखण्ड के उत्तरी भाग को एक विस्तृत खण्ड के रूप में घेरे हुए है। साइबेरिया, उत्तरी रूस, स्वीडन तथा कनाडा का अधिकांश इसी खण्ड के क्षेत्र में हैं। यहाँ वर्षा अधिक नहीं होती, परन्तु गरमी भी कम पड़ती है। गरमी की कमी से इस वर्षा का प्रभाव अधिक होता है, जिससे वृक्ष ख़ूब उगते और पनपते हैं। यहाँ चीड़ के वन बहुतायत से पाए जाते हैं और जंगलों की लकड़ी काटना यहाँ का प्रमुख व्यवसाय है।

३—भीतरी निचले प्रदेशों का चरागाह खण्ड—यूरेशिया के स्टैप नामक मैदान और कनाडा के प्रेरी नामक मैदान इस खण्ड के विस्तृत क्षेत्र हैं। यहाँ पर खेती की उपज और घास की बाढ़ के लिए पर्याप्त वर्षा हो जाती है। जहाँ वर्षा की अधिकता है वहाँ खेती की उपज भी अधिक होती है। रुई, जौ, ओट्स तथा गेहूँ इस खण्ड के प्रधान धान्य हैं।

४—पश्चिमीय तटस्थ खण्ड—इसका विस्तार ब्रिटिश कोलम्बिया, उत्तरी पश्चिमी योरप, दक्षिणी चिली, तस्मानिया और न्यूज़ीलैण्ड के अधिकांश भागों में है। यहाँ की जलवायु ही इस खण्ड की मुख्य विशेषता है। यह जलवायु मनुष्य को उत्साही बनाती है और उसके लिए अतीव स्वास्थ्यप्रद है। इसी कारण यह खण्ड संसार के सबसे अधिक उन्नत खण्डों में गिना जाता है। गरमी के दिनों में यहाँ बहुत कम गरमी पड़ती है और सरदी के दिनों में जाड़ा भी कम पड़ता है। यहाँ वर्षा बारहों महीने होती रहती है।

५—उच्च पर्वतीय खण्ड—यह खण्ड एशिया की अधिक ऊँची पर्वत-श्रेणियों तथा उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी भाग के पर्वतों के उत्तरी भाग में फैला हुआ है। अधिक ऊँची और पथरीली भूमि इसकी विशेषता है। इस प्रदेश में खनिज पदार्थ अधिक पाए जाते हैं और उनकी खुदाई हीं यहाँ का प्रमुख व्यवसाय है। इस खण्ड में साइबेरिया के उत्तरी ढालों पर बहुत अधिक पानी बरसता है और कनाडा के पश्चिमी ढालों पर भी अधिक वर्षा होती है। इनके विपरीत दिशाओं के ढाल सूखे रहते हैं।

द—शीत प्रदेश

१—टुण्ड्रा—उस खण्ड को कहते हैं जो यूरेशिया और उत्तरी अमेरिका के एकदम उत्तर में, ध्रुव-प्रदेशों के निकट, बर्फ़ की टोपी की भाँति धरातल पर फैला है। यह लम्बा मैदान वर्ष के अधिक भाग में बर्फ़ से ढका रहता है। बर्फ़ और शीत की अधिकता के कारण यहाँ खेती होना असम्भव-सा है। इस खण्ड की भूमि वर्ष के आठ महीने बर्फ़ से ढकी रहती है। नदियों का जल भी बर्फ़ के रूप में जम जाता है। मई महीने से बर्फ़ पिघलना आरम्भ होती है और सूर्य निकलकर कई मास तक क्षितिज के नीचे नहीं जाता। बर्फ़ पिघलने पर धरती एक प्रकार की काई-जैसी घास तथा छोटी झाड़ियों से ढक जाती है और फूलों की बहार आरम्भ हो जाती है। इन्हीं दिनों पक्षियों के झुण्ड-के-झुण्ड उत्तर दिशा की ओर उड़ते पाए जाते हैं। अगस्त मास से फिर ठण्ड बढ़ने लगती है। इस खण्ड में सील मछली तथा मुलायम बालोंवाली लोमड़ी का शिकार अधिक किया जाता है। बर्फ़ पर रहनेवाली मछलियाँ ही यहाँ का प्रमुख खाद्य है। लैपलैण्ड के लैप, उत्तरी साइबेरिया के समूदी, अलास्का और ग्रीनलैण्ड के एस्किमो जैसे लोग इस प्रदेश को बसाए हुए हैं। इस खण्ड में खनिज भी पाए जाते हैं। जहाँ मार्ग की सुविधा है, जैसे यूकान और नारवे में, वहाँ इनकी खुदाई होती है। बारहसिंहा यहाँ का विशेष उपयोगी पशु है। यही बोझा ढोने के काम में भी आता है।

२—शीतल मरुप्रदेश—उस खण्ड को कहते हैं, जो ध्रुव-प्रान्तों को घेरे हुए है और सदा बर्फ़ से ढका रहता है। ग्रीनलैण्ड और अण्टार्क्टिका महाद्वीप तथा ध्रुव-प्रदेशीय द्वीपपुंज इस खण्ड के क्षेत्र हैं। यहाँ उपज कुछ नहीं होती। इस खण्ड का अधिकांश तो अभी मनुष्य की पहुँच के बाहर ही है। हाँ, पिछले कुछ वर्षों से पृथ्वी के इस दुर्गम प्रदेश पर विजय पाने के लिए अथक प्रयास हो रहे हैं और अचरज नहीं कि निकट भविष्य ही में यहाँ भी मानव उपनिवेश बस जायँ! इस ग्रंथ के विगत कुछ अंकों में साहसी पेरी द्वारा उत्तरी ध्रुव की खोज तथा एमंडसन, बर्ड आदि द्वारा दक्षिणी ध्रुव के अनुसंधान की वीरतापूर्ण कथाएँ आप पढ़ ही चुके हैं।

उपर्युक्त प्राकृतिक खण्डों का वर्गीकरण मुख्यतः भिन्न प्रदेशों की जलवायु, उपज आदि संबंधी प्राकृतिक विशेषताओं की समानता के आधार पर ही किया गया है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस प्रकार के किसी एक वर्ग विशेष के निवासियों के जीवन या संस्कृति में भी उसी प्रकार समानता पाया जाना अनिवार्य नहीं है, कहीं कोई उन्नत हैं तो कहीं बिल्कुल पिछड़े हुए।

भारतीय तथा विदेशी पक्षी—(२)

पक्षियों संबंधी प्रस्तुत लेखमाला पिछले अंक से इस स्तंभ के अंतर्गत धारावाहिक रूप में प्रकाशित हो रही है और अगले दो अंकों में वह समाप्त होगी। अतएव पाठकों से निवेदन है कि प्रस्तुत लेख को पिछले अंक के सिलसिले में ही पढ़ें। इस लेख में अंडों की विशिष्ट आकृति और वर्ण-योजना एवं चिड़ियों के बच्चों की प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा के अतिरिक्त पक्षी-जगत् के उन अद्‍भुत प्राणियों का परिचय दिया गया है, जो पंखयुक्त होकर भी उड़ने में असमर्थ हैं।

जब आप किसी घोंसले में झाँककर उसमें रखे हुए अंडों को देखते हैं तो क्या उन्हें देखकर आपको इस बात से आश्चर्य नहीं होता कि वे इस प्रकार रंग-बिरंगे और चित्रित क्यों हैं, एवं क्यों वे एक सिरे पर ज़्यादा तथा दूसरे सिरे पर कम चौड़े होते हैं ? अंडे की ही शक्ल पर 'अंडाकार' शब्द बन गया है और उसके इस तरह रंग-बिरंगा होने तथा उसकी विशेष आकृति का भी विशिष्ट कारण है।

अंडों की विशिष्ट आकृति और रंग का रहस्य

पक्षियों के अंडे यदि पूर्णतया गोल होते तो वे घोंसले के अन्दर उतनी अच्छी तरह नहीं समा सकते थे जितने अंडाकार होने पर, और उस हालत में वे जगह भी अधिक घेरते। यदि किसी घोंसले को आप देखें, जिसमें बहुत-से अंडे हों तो आप देखेंगे कि मादा पक्षी उन्हें इस प्रकार सँजोकर रखती है कि उन सबका सँकरा सिरा बीच के केन्द्र की ओर अभिमुख रहता है। इस तरह वे न्यूनतम जगह घेरते हैं और मादा उन पर बैठकर सबको एक साथ ही से सकती है। ऊँची चट्टानों पर पाए जानेवाले क्विलीमोर (Quillimor) नामक कबूतर जैसे पक्षियों के अंडे एक सिरे पर दूसरे सिरे की अपेक्षा बहुत सँकरे होते हैं। ऐसा क्यों ? जैसा कि बताया जा चुका है, इन पक्षियों को अपने अंडे खुली चट्टानों की कोर पर नितान्त अरक्षित अवस्था में रखना पड़ता है। यदि तेज़ हवा के झोंके आएँ तो गोल अंडे अवश्य लुढ़ककर दूर जा गिरेंगे, किन्तु इस विशेष आकृति के होने के कारण ये अंडे हवा के

देखिए, घोंसले में अंडे किस प्रकार न्यूनतम जगह में विशेष प्रकार से सँजोकर रक्खे गए हैं, साथ ही शत्रुओं की कुदृष्टि से बचाने के लिए प्रकृति ने उन्हें कबचितरा बनाकर किस प्रकार आसपास के घास-पात में मानों छिपा-सा दिया है !
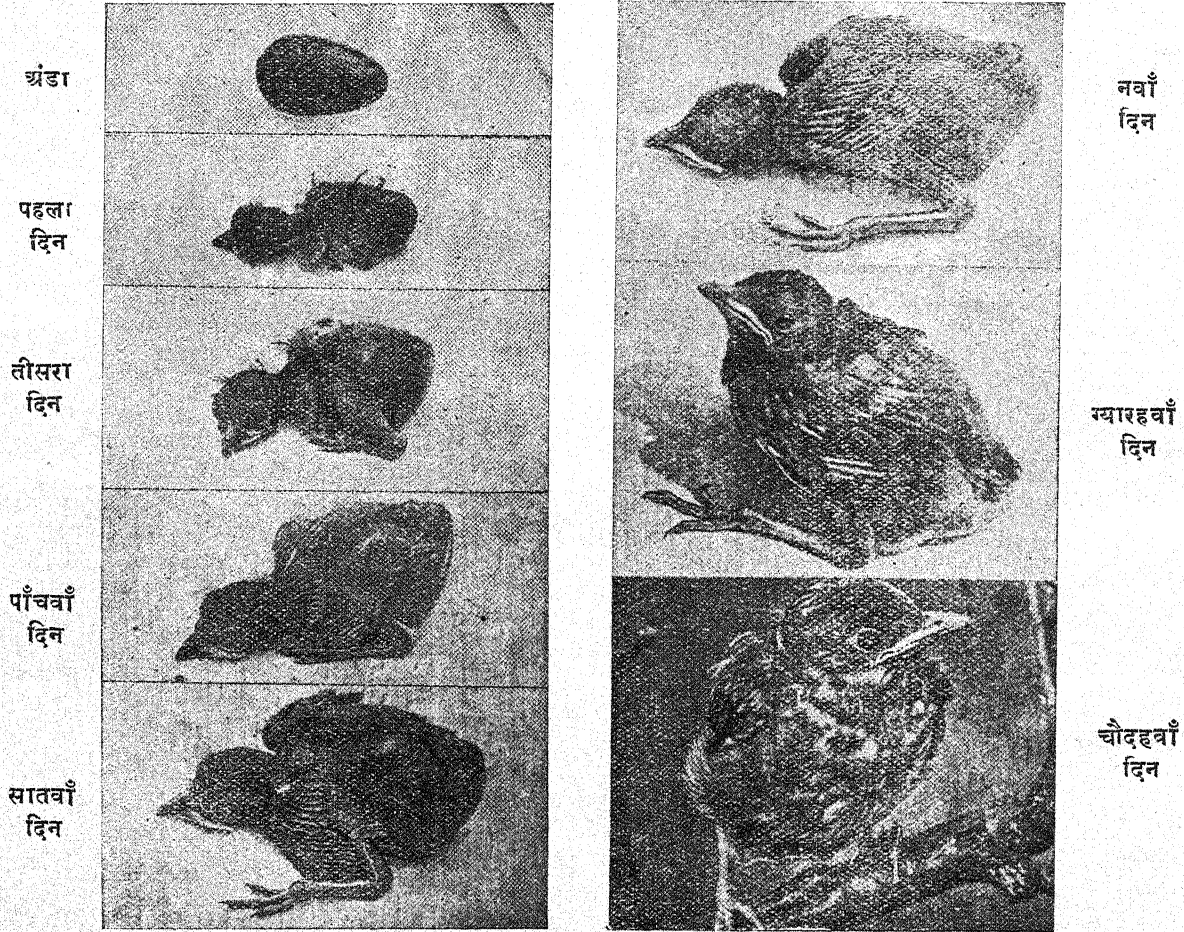
अंडे से निकलकर पक्षी किस प्रकार और कितनी जल्दी बढ़कर उड़ने लायक होता है !
प्रस्तुत चित्रावली में 'ब्लेकबर्ड' नामक चिड़िया के बच्चे के विकासक्रम का दिग्दर्शन कराया गया है। अंडे को फोड़कर बाहर निकलने के १४ दिन बाद ही असमर्थ शिशु पंख पाकर वृक्ष की डाल पर फुदकने और उड़ने लगता है !

झोंके में उसी स्थान पर वृत्ताकार परिधि में पतले सिरे के बल लुढ़ककर घूम जाते हैं और इस तरह चट्टान पर से नीचे गिरने से बच जाते हैं।

किन्तु कौड़िल्ला (Kingfisher) जैसे कुछ पक्षियों के अंडे गेंद की भाँति पूर्णतया गोल आकृति के भी होते हैं। ऐसा क्यों ? मशहूर है कि कौड़िला अपने अंडे एक सुरंग या खोह के अन्दर सुरक्षित रूप से रखता है, जहाँ न हवा-तूफ़ान के मारे लुढ़क जाने का डर और न जगह की कमी का ही प्रश्न रहता है। अतः ऐसे पक्षियों के अंडे, जिन्हें वे ज़मीन के भीतर खोह या कन्दराओं में या ऐसी चौरस ज़मीन पर रखते हैं जहाँ इनके लुढ़ककर नीचे गिरने का डर नहीं, गेंद के सदृश गोल होते हैं।

अंडों के रंग की योजना भी उनकी रक्षा के ही निमित्त होती है। युद्ध के इन दिनों में हम प्रायः "कैमूफ्लेज" (Camouflage) अर्थात् विशेष चित्रण द्वारा किसी अस्त्र-शस्त्र आदि को छिपाने की कला के बारे में सुनते हैं। प्रायः जहाज़, टैङ्क और लारियों पर इस प्रकार धब्बेदार रंग चढ़ाये जाते और चित्र बना दिए जाते हैं कि दूर से देखने पर वे आस-पास की चीज़ों के रंग से मेल खा जायँ और उन्हें कोई पहचान न सके। ठीक इसी प्रकार प्रकृति भी पखेरुओं के अंडों को शत्रुओं की निगाह से छिपाने के लिए उन पर भिन्न-भिन्न रंग और धब्बे चित्रित कर उनकी रक्षा का प्रबंध करती है। उन पक्षियों के अंडे, जिन्हें वे खोह-कन्दराओं या सुरक्षित घोंसलों में रखते हैं (जैसे

उल्लू और कौड़िल्ला आदि), प्रायः सफ़ेद रंग के होते हैं, क्योंकि इन पर शत्रु की नज़र नहीं पड़ सकती। यही हाल उन पक्षियों का भी है जो अपने अंडे दुर्गम तथा निर्जन स्थानों में रखते हैं अथवा बगुलों की तरह उनकी रक्षा का सामर्थ्य रखते हैं।

ऐसे पक्षियों के अंडे, जो ज़मीन पर अपने घोंसले बनाते हैं, रंग में पास-पड़ोस की चीज़ों से मेल खाते हुए होते हैं। छल्लेदार प्लोवर (*Plover*) नामक पक्षी तथा समुद्र-तट पर पाए जानेवाले ऐसे ही अन्य पक्षी ऐसे अंडे देते हैं जिनका रंग समुद्र-तट की भूमि के रंग से मेल खाता है। समुद्र-तट के कंकड़ या बालू के कणों की भाँति इनके अंडे पर भी कबचितरे रंग चढ़े रहते हैं। इनको देख सकना इतना मुश्किल है कि अक्सर तो पैरों से रौंदे जाने पर ही इनका पता लगता है। जिन पक्षियों के घोंसले वृक्षों की टहनियों पर होते हैं (जहाँ कि धूप-छाँह झिलमिलाया करती है) उनके अंडों पर काले और बीच-बीच में सफ़ेद धब्बे बने होते हैं ताकि वे आसानी से देखे न जा सकें। ये धब्बे परिस्थिति के अनुसार बादामी, भूरे, हरे या आसमानी किसी भी रंग के हो सकते हैं।

चिड़ियों के बच्चे तथा उनकी प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा

अंडों से बच्चों के बाहर निकलने पर उनके माता-पिता को उनका भोजन जुटाने और उन्हें खिलाने-पिलाने में अत्यधिक व्यस्त रहना पड़ता है। दिन प्रतिदिन उन्हें दूर-दूर तक उड़कर सैकड़ों यात्राएँ केवल इसीलिए करना पड़ती हैं कि वे अपने भूखे बच्चों के लिए अनाज के दाने, बीज, मक्खियाँ, इल्लियाँ तथा हर जाति के कीड़े-मकोड़े जुटा सकें। हज़ारों की संख्या में ये कीड़े-मकोड़े इन बच्चों की क्षुधा-निवृत्ति के लिए पकड़कर लाये जाते हैं। नन्हें-नन्हें बच्चों की चोंच का चटकीला लाल या पीला रंग मादा को शीघ्रता से बच्चे के मुँह में यथास्थान खाद्य रख देने में बड़ी सहायता देता है। वह उसे चुगाकर तुरंत पुनः भोजन-सामग्री की खोज में उड़ जाती है—उसके पास इतना समय नहीं होता कि वह अपने बच्चों को खिलाने में आवश्यकता से अधिक समय व्यय करे।

किसी भी पक्षी के बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा का अवलोकन निस्सन्देह अत्यन्त चित्ताकर्षक होता है। तमाम जीवधारियों में मनुष्य की ही बाल्यावस्था सबसे लम्बी होती है। कहते हैं कि जिराफ़ का बचा जन्म लेने के बीस ही मिनिट उपरान्त अपने पाँवों पर खड़ा हो जाता है, और २४ घंटे के अन्दर तो वह दौड़ लगाने लगता है तथा तीन हफ़्ते के भीतर नन्हीं-नन्हीं दूब कुतरने लग जाता है। हाथी के बच्चे तो जनमते ही अपनी माँ के संग घूमने-फिरने लग जाते हैं। किन्तु चिड़ियों को समस्त ग्रीष्म-ऋतु भर अपने बच्चों का पालन-पोषण तथा उन्हें स्वतंत्र बनने की शिक्षा देनी पड़ती है ताकि ग्रीष्म बीत जाने पर वे जाड़े का सफलतापूर्वक सामना कर सकें एवं आवश्यकतानुसार लम्बी यात्राओं पर भी जा सकें। ज्योंही बच्चों ने अपने प्रारम्भिक दिनों को पार कर लिया और उनके पंख उग आए, जिससे कि वे उन्हें फड़फड़ा सकें, त्योंही उनकी शिक्षा-दीक्षा का कार्य आरम्भ हो जाता है। अब उन्हें अपने घोंसले से, जहाँ वे अब तक पूर्ण रूप से सुरक्षित थे तथा भरपेट भोजन पाते थे, बाहर की दुनिया में आना पड़ता है और अपनी देख-रेख स्वयं करना सीखना पड़ता है। सबसे पहले उन्हें उड़ना सीखना होता है। गौरय्या जैसे कुछ पक्षी अपने बच्चों को उड़ना सिखाने में व्यर्थ समय नष्ट नहीं करते। वे तो मानों अपने बच्चों को घोंसले के अन्दर से ज़बरन बाहर धकेल देते हैं; और वे बच्चे इस डर से कि नीचे ज़मीन पर न गिर जायँ, अपनी सहज नैसर्गिक प्रवृत्ति (instinct) के अनुसार पंख फैलाकर उन्हें फड़फड़ाने लगते हैं। प्रायः मादा पक्षी उन्हें किसी ऊँचे ठौर पर ले जाती है, और

पेलिकन नामक पक्षी की मादा अपनी दीर्घ चोंच में बच्चे की चोंच भरकर इसी प्रकार उसे खाना खिलाया करती है।
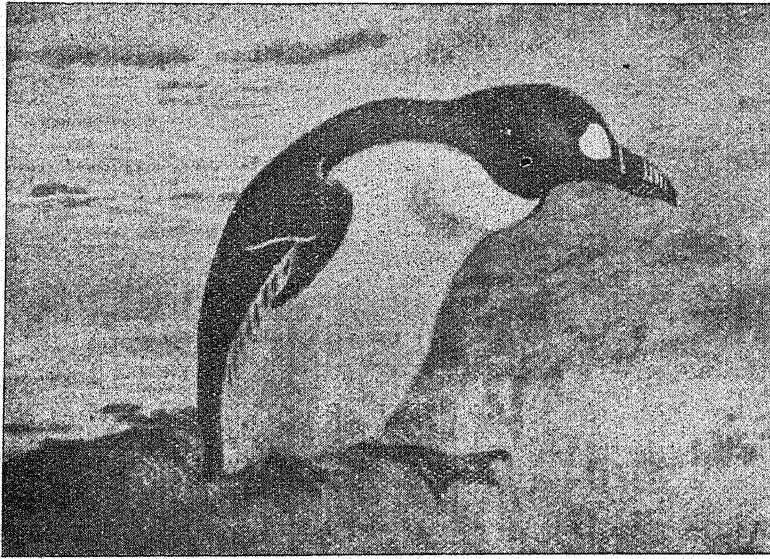
मनुष्य के अविचार और अदूरदर्शिता के शिकार का एक नमूना—उत्तरी ध्रुव-प्रदेशों का विलुप्त 'ऑक' नामक पक्षी

छोटे-से डैनोंवाला यह बड़ा-सा पक्षी, जो उड़ने में असमर्थ था, केवल सौ साल पहले उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में बहुतायत से पाया जाता था। किन्तु इसी अवधि में मांस तथा परों के लोभ में मनुष्य द्वारा इसका बेतरह शिकार किया गया—यहाँ तक कि लोगों ने उसके अंडे तक चुरा लिये। फलस्वरूप पृथ्वी से इसका वंश ही मिट गया और आज दिन अजायबघरों के लिए उसका शव हज़ारों रुपयों में बिकता तथा उसके एक दर्जन अंडों का मूल्य एक ताज की क़ीमत के बराबर आँका जाता है।

उनसे वही क्रिया फिर से दुहरवाती है। बच्चे ज़मीन पर से अपने घोंसले तक कई बार छोटी उड़ान भरकर अपने मन में आत्मविश्वास पैदा कर लेते हैं और यह जानकर कि हमें उड़ना आ गया बड़े ख़ुश होते हैं।

कुछ पक्षियों के बच्चों को इस प्रकार सीख देने में अधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है। मादा प्रायः बच्चे के सामने अपने पंखों को फड़फड़ाकर एक टहनी से दूसरी टहनी पर उड़कर जाती है। तब वह फिर वापस लौटती है, और अपने बच्चों को वैसा ही करने के लिए उत्साहित करती है। पहले एक बच्चा कोशिश करता है, फिर दूसरा, इसी प्रकार सभी आसानी के साथ माँ की तरह उड़ने लग जाते हैं। वे उसके साथ सटे-सटे फुदककर इधर-उधर उड़ने लगते हैं। उसकी आवाज़ सुनकर, जब वह उन्हें बुलाती है या खाना खाने के लिए पुकारती है अथवा किसी ख़तरे से उन्हें आगाह करती है, वे फ़ौरन् उड़कर उसके पास पहुँच जाते हैं। यदि कोई बच्चा औसत से अधिक मूर्ख या हठी होता है तो वह शीघ्र ही अपनी जान खो बैठता है। वस्तुतः केवल सतर्क, हृष्ट-पुष्ट तथा आज्ञाकारी बच्चे ही जीवन-यात्रा-पथ पर आगे बढ़ पाते हैं।

नन्हें बच्चों को उड़ने के अतिरिक्त और भी कितनी ही बातें सिखलाई जाती हैं। कौड़िल्ला (Kingfisher) अपने बच्चों को पानी में डुबकी लगाकर मछलियाँ पकड़ना सिखाता है। जलपक्षी अपने बच्चों को पानी पर तैरना सिखाते हैं। आइडर डक (Eider duck) नामक एक प्रकार की बत्तख़ तो अपने बच्चों को तैरना सिखलाने के लिए बड़े ही विचित्र तरीक़े से काम लेती है। वह बच्चों को पीठ पर लिये हुए तैरते-तैरते पानी की सतह के बीच अकस्मात् डुबकी लगाती है और इस प्रकार तमाम बच्चे जब पानी की सतह पर छूट जाते हैं तब विवश हो उन्हें तैरना ही पड़ता है। वे बेचारे टाँगों को डाँड़ों की तरह डुलाते हुए अपने को किसी-न-किसी तरह डूबने से बचाते हैं, साथ ही यह देखकर उन्हें प्रसन्नता भी होती है कि माँ की तरह वे भी अब तैरने लगे।

उड़ने में असमर्थ पक्षी

सामान्यतः पक्षी एक अद्भुत उड़नेवाला यंत्र होता है, किन्तु कुछ पक्षी ऐसे भी हैं जो उड़ने में सर्वथा असमर्थ हैं। इनमें से कुछ—जैसे अन्टार्क्टिका के सुप्रसिद्ध पेन्गुइन पक्षी तथा आर्कटिक प्रदेशों के ऑक (Auk), जो अभी १०० वर्ष पहले तक वहाँ बहुतायत से पाए जाते थे—पानी के अन्दर उड़ते हैं, तथा कुछ स्थल पक्षी हैं जिनके पंखों का विकास भली तरह नहीं हो पाया है और फलतः जो जमीन पर केवल दौड़ लगा सकते हैं।

दौड़ लगानेवाले इन पक्षियों में अफ़्रीका और दक्षिण अमेरिका के पाँच-छः जाति के शुतुर्मुर्ग़, एवं आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड के ऐमू (Emu), कैसोवरी (Cassowary) और किवी (Kiwi) आदि ही आज दिन जीवित हैं। इन्हीं के वर्ग में मोआ और डोडो नामक कबूतरों का भी उल्लेख

किया जा सकता है, जो अब पृथ्वीतल से बिल्कुल विलुप्त हो गए हैं।

उड़ने में असमर्थ पक्षियों की उत्पत्ति का क्या कारण हो सकता है? हमें स्मरण रखना चाहिए कि जानवर सदैव ख़ुराक की तलाश में लगे रहते हैं, और इनमें से अधिकांश को मांसाहारी जानवरों के आक्रमण का खतरा रहता है। इनसे बचने के लिए उन्हें अपने फ़ुर्तीलेपन, लड़ने की शक्ति या भागने की शक्ति पर ही भरोसा रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जानवरों के आसपास का वातावरण निरन्तर बदलता रहता है, अतः वे प्राणी, जो परिवर्त्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने को नहीं बना पाते हैं, देर में या जल्दी ही इस भूमण्डल से विलुप्त हो जाते हैं। पक्षियों द्वारा उड़ने की शक्ति प्राप्त करने के पीछे भी उपर्युक्त दोनों आदिम आवश्यकताएँ ही रही हैं। इस शक्ति ने पक्षियों को इस योग्य बनाया कि वे स्थलचर मांसाहारी जानवरों से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो गए, साथ ही उनके लिए यह भी सम्भव हो सका कि हवा में प्रचुरता से पाये जानेवाले उड़ाकू कीड़े-पतिंगों का भी शिकार कर सकें। अतः आदि उड़नशील उरंगमों (reptiles) से सर्वप्रथम उड़नेवाले पक्षियों का विकास हुआ, जिसका कि प्रमाण आदि काल के प्रस्तर-चिह्नों में हमें मिलता है, और प्राथमिक दिनों के इन उड़नशील प्राणियों से विकास हुआ बाद के सभी पक्षियों का, जिनमें से कुछ की उड़ने की क्षमता बढ़ी-चढ़ी थीं तो कुछ की बहुत कम। किन्तु सभी प्राणी अपने लिए खाद्य पदार्थ प्रायः सबसे सहल तरीके द्वारा प्राप्त करने के आदी हैं। अतः संसार के कुछ प्रदेशों में कतिपय पक्षियों ने सहूलियत के विचार से उड़ना छोड़कर जलचर या स्थलचर प्राणी की आदतें ग्रहण कर लीं, यद्यपि वे सब हैं उड़नेवाले पक्षियों की संतान।

दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश के मनोरंजक निवासी—पेन्गुइन

क्या पहली निगाह में देखने पर आपको यह भ्रम नहीं होता कि यह झुंड पक्षियों का नहीं वरन् सफ़ेद कुत्तों पर काले कोट पहने हुए मनुष्यों का एक मेला है। ये अद्भुत प्राणी मनुष्यों की तरह ही पैरों पर सीधे खड़े रहते और उनके अजीब डैने दोनों ओर हाथों की तरह लटकते रहते हैं। ये उड़ने में तो नितान्त असमर्थ हैं, किन्तु परों को कुछ फैलाकर तथा गर्दन आगे निकालकर एक अजीब ढंग से वे एक चट्टान से दूसरी को दो-तीन फ़ीट तक कुदक सकते हैं। मनुष्य से ये बिल्कुल नहीं डरते और कभी-कभी उत्सुकता-पूर्वक एकदम समीप चले आते हैं। दाहिनी ओर ऊपर के कोने में इस अद्भुत जीव का बड़ा-सा चित्र दिया गया है।
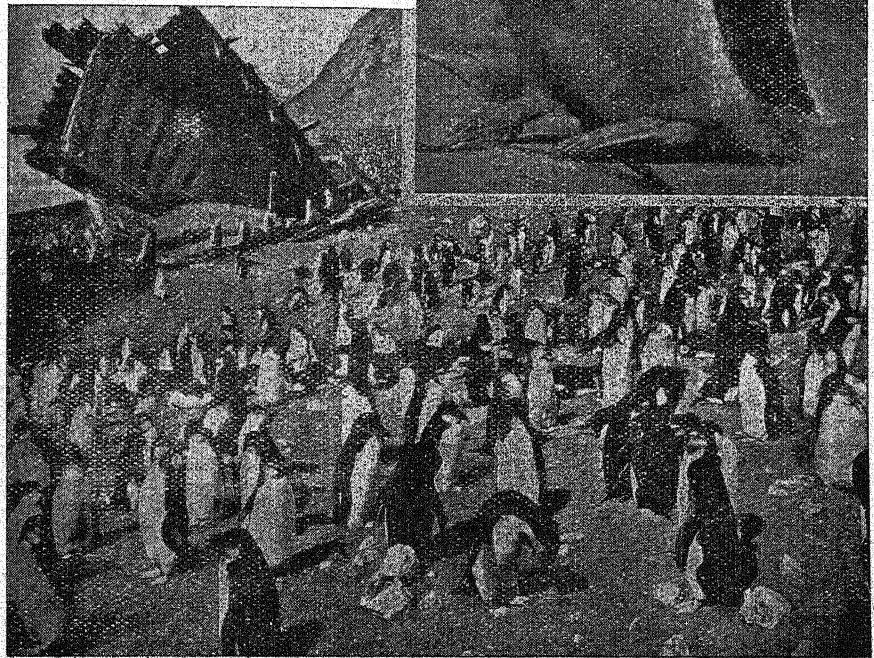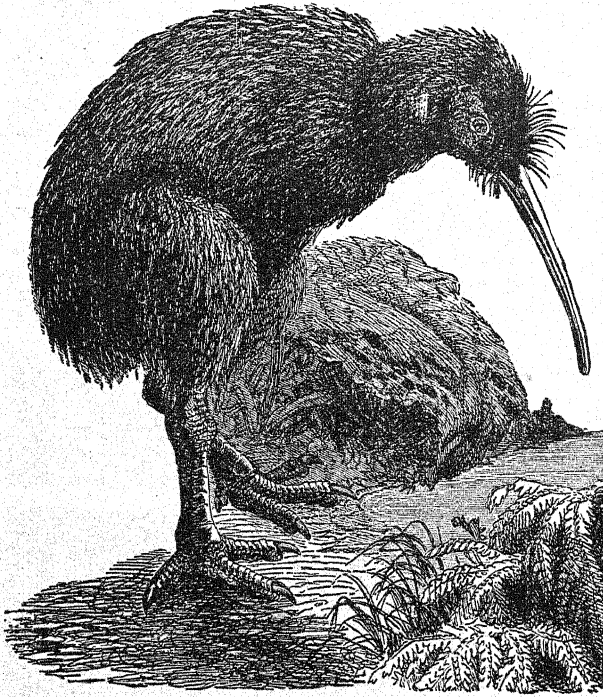
न्यूज़ीलैण्ड का एक अद्भुत प्राणी—किवी

सेही जैसा दिखाई देनेवाला यह जन्तु वस्तुतः एक पक्षी है, यद्यपि न तो इसकी सूरत-शक्ल ही पक्षियों जैसी है न यह उड़ ही पाता है। इसकी लंबी चोंच पर ध्यान दीजिए, जिसके सिरे पर इसके नथुने होते हैं। ये नथुने इसे केंचुए आदि पकड़ने में ख़ास मदद पहुँचाते हैं। इस प्राणी की आवाज़ सीटी जैसी होती है, इसीलिए इसका नाम 'किवी' पड़ गया है। सेही की तरह यह भी निशाचरी जीवन बिताता है।

अनेक पक्षियों ने, जिन्होंने मछुओं का पेशा अपना लिया, डुबकी लगाने के साथ-साथ अपने अन्दर उड़ने की क्षमता भी बनाए रक्खी—जैसे गोताख़ोर गल (Gulls) और अल्बैट्रास (Albatross) नामक पक्षियों ने। किन्तु कुछ ने उड़ने की शक्ति पूर्णतया खो दी। ऑक (Auk) इसी श्रेणी का पक्षी है (दे० पृ० २११८ का चित्र)। आइसलैंड, स्कैन्डैनेविया, ब्रिटेन, न्यूफाउंडलैंड और आर्कटिक समुद्र के तटवर्त्ती प्रदेशों में कभी ऑक प्रचुरता से पाया जाता था, किन्तु विगत सौ साल के अन्दर ही मनुष्य जाति ने इसका पूरा नामोनिशान मिटा दिया। मनुष्य की अज्ञानता तथा अदूरदर्शिता ने भूमंडमल के इस प्रदेश विशेष को एक रोचक पक्षी से ही वञ्चित नहीं कर दिया, वरन् वहाँ के निवासियों को संकट के समय काम में आ सकनेवाली एक मूल्यवान् खाद्य सामग्री से भी सदा के लिए वञ्चित कर दिया। इस प्राणिवर्ग के अन्तिम दो जीवित सदस्य १८४४ ई० में पकड़े गए थे। उनके शव तथा अंडे कुछ संग्रहालयों में बहुमूल्य प्रदर्शन की वस्तुओं के रूप में सुरक्षित हैं।

मानवाकृतिवाले पेन्गुइन पक्षी

अब हम भूमंडल के दूसरे छोर के एक ऐसे पक्षी का हाल आपको सुनाने जा रहे हैं, जिसने आकाश में विचरना छोड़कर स्थल और जल के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है। हमारा अभिप्राय दक्षिण महासागर के पेन्गुइन पक्षी से है। इसकी ख़ूबी यह है कि सूखी भूमि या पानी की सतह की अपेक्षा पानी के अन्दर रहना ही इसे अधिक सुहाता है। पेन्गुइन बढ़िया तैराक होते हैं, बल्कि यह कहना ग़लत न होगा कि ये पानी के अन्दर उड़ते हैं। ये अपने चपटे डैनों का प्रयोग बढ़िया डाँड़ की तरह करते हैं, और इन डैनों को तेज़ी के साथ डुलाते हुए ये तीर की भाँति ठीक एक तेज़ मछली की तरह पानी के अन्दर भागते चले जाते हैं! अपने डैनों की मदद से पानी के अन्दर ये इधर-उधर इतनी फुर्ती के साथ मुड़ सकते हैं, जितनी तेज़ी से आकाश में विचरने वाले पक्षी भी नहीं मुड़ पाते। तैरते समय इनकी टाँगें एकदम ढीली होकर इनके शरीर के साथ एक ही सीध में सध जाती हैं तथा अधिक गहराई तक नीचे उतरने के लिए वे रह-रहकर ऊपर को झटका देती रहती हैं। इनके डैनों के छोटे-छोटे पंख सिमटकर मछलियों के बदन पर के स्केलों (scales) जैसे बन गए हैं और उनमें पतली डाँड़ियाँ (quills) तो बिलकुल ही नहीं होतीं। इस प्रकार इनके डैने सील या ह्वेल मछली के डैनों की भाँति दिखाई पड़ते हैं।

भूमि पर पेन्गुइन पक्षी एकदम सीधा मनुष्य की तरह खड़ा हो जाता है। उसके सामनेवाले डैने मनुष्य की भुजाओं की तरह शरीर से सटे हुए बाजू में लटकते रहते हैं। जैसा कि चित्र से प्रकट है, इन विचित्र प्राणियों का झुंड (जिनमें से कई जातियाँ क़द में ३-३॥ फ़ीट ऊँची होती हैं) जब समुद्र-तट पर खड़ा होता है तो दूर से ऐसा प्रतीत होता है मानों आदमियों की भीड़ जमा हो। किन्तु जब वे अपने भारी शरीर का बोझ छोटी-छोटी टाँगों के बल पर सँभाले हुए ज़मीन पर चलने का प्रयत्न करते हैं तो ऐसे डगमगाने लगते हैं जैसे अब गिरे, तब गिरे! उनका यह प्रयास नितान्त

हास्यजनक प्रतीत होता है। वस्तुतः ज़मीन पर उनके लिए तेज़ चल सकना सम्भव नहीं है।

उनकी कुछ आदतें और भी अधिक दिलचस्प हैं। कहा जाता है कि ये किसी से भी डरना जानते ही नहीं। अक्सर ये यात्रियों के कुत्तों के इतने निकट तक चले आए कि अनायास उनके कलेवा का सामान बन गए। इन रोचक पक्षियों का झुंड बर्फ़-शिलाओं पर खड़ा होकर शत्रु की टोह पाने के लिए पानी में घूरता रहता है। इतने में यदि इनमें से कोई पानी के बहुत ही निकट पहुँच गया तो उसे उसके साथी अचानक पानी में ढकेल देते हैं। यदि वह बिना किसी बाधा या ख़तरे के कुछ देर तक सकुशल तैरता रह गया तब तो उसके अन्य साथी भी पानी में उतरते हैं, किन्तु यदि किसी ह्वेल या सील ने उसे पानी में जाते ही चट कर डाला तो भीड़ के अन्य सदस्य पानी में प्रवेश करने का विचार त्याग देते हैं। अन्टार्कटिक प्रदेश की नितान्त ठंडी जलवायु में ये अपने अंडे से लेते हैं, यह भी कम आश्चर्यजनक बात नहीं है। इनके घोंसलों में पंख या इस तरह की अन्य मुलायम चीज़ नहीं लगी रहती, वरन् अपने अंडे को पेन्गुइन मादाएँ अपने पेट की खाल की शिकन के बीच दबाकर गर्म रखतीं और अपने पैर तथा चोंच से उन्हें फेरती रहती हैं ताकि उनके हर भाग में शरीर की गर्मी पहुँचे। एम्परर पेन्गुइन (Emperor Penguin) किसी प्रकार के घोंसले नहीं बनाते, बल्कि बर्फ़शिलाओं पर ही वे अपने अंडे से लेते हैं। सर्दी में अपने एकमात्र अंडे को ठंड से बचाने के लिए वे उसे अपने पैरों पर लिये रहते हैं।

इस रोचक तथा विचित्र पक्षी की कई एक जातियाँ दक्षिण महासागर के अन्टार्कटिक प्रदेश में पाई जाती हैं। विशेषतया न्यूज़ीलैंड में इनकी विविध जातियाँ पाई जाती हैं, और कुछ-एक वर्ग हिन्द महासागर के इक्के-दुक्के द्वीपों तथा दक्षिणी अफ्रीका के तट पर भी मिलते हैं। अवश्य ही इनके पूर्वज उड़कर कभी इन दूरस्थ द्वीपों में पहुँचे होंगे। जब किसी शक्तिशाली शत्रु की अनुपस्थिति में यहाँ उन्होंने उड़ने की ज़रूरत महसूस न की होगी तब कालान्तर में वे उड़ने की शक्ति पर्णतया खो बैठे होंगे, साथ ही समुद्र से प्रचुर मात्रा में खाद्य सामग्री लभ्य होने के कारण वे धीरे-धीरे आज की तरह जलप्रधान प्राणी बन गए होंगे।
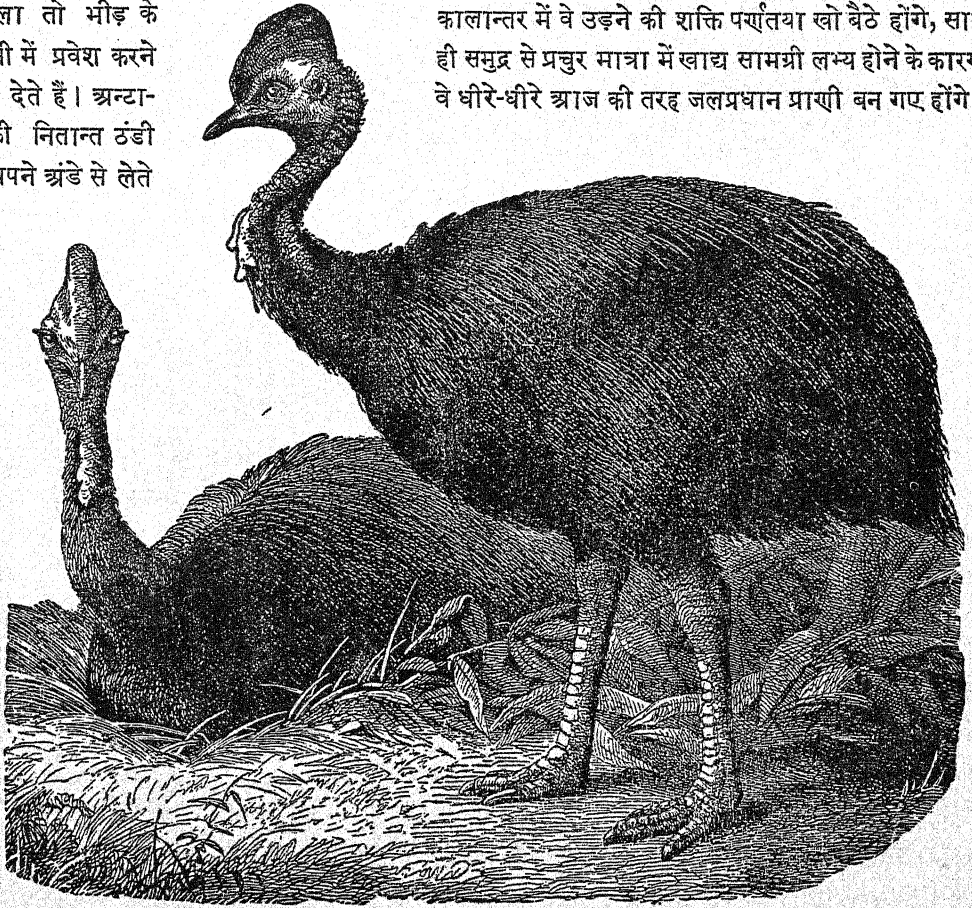
ज़मीन पर दौड़नेवाले पक्षियों में सबसे सुन्दर—कैसोवरी

यह ऑस्ट्रेलिया के समीप के न्यू गिनी आदि द्वीपों में पाया जाता है। दौड़ने में यह बड़ा ही फुर्तीला तथा मज़बूत पाँव का जानवर होता है। इसके सिर पर एक विचित्र कलगी लगी रहती है और गरदन निर्लोम तथा चटकीले रंग की होती है। निश्चय ही पक्षियों की सौंदर्य-प्रतियोगिता में कैसोवरी पुरस्कार पाने योग्य है।
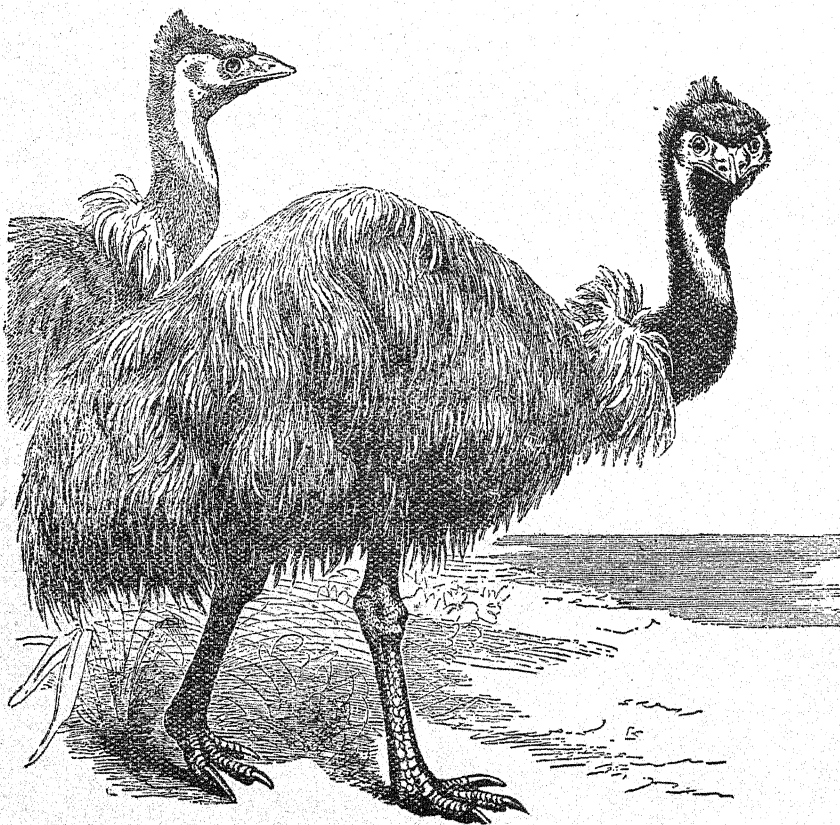
ऑस्ट्रेलिया का पक्षिराज—ऐमू

यह क़द में लगभग ४ फ़ीट तक ऊँचा होता है और शुतुर्मुर्ग़ को छोड़कर सबसे बड़ा पक्षी कहा जा सकता है। शुतुर्मुर्ग़ की तरह यह भी खुले मैदानों में रहता, तीव्र गति से दौड़ लगाता और शत्रु से घिर जाने पर टाँगों से आगे-पीछे ठोकर मारकर अपनी रक्षा कर लेता है।

डाला। अतएव इसका ज़िक्र छोड़कर अब हम किवी (Kiwi) नामक पक्षी का वर्णन करेंगे, जिसकी कई एक जातियाँ न्यूज़ीलैंड के टापू में इन दिनों भी पाई जाती हैं। इनके पैरों में केवल चार उँगलियाँ होती हैं। इनके डैने और दुम इतने छोटे होते हैं कि वे इनके बाल-सदृश पंख के अन्दर ही छिपे रहते हैं। चित्र में देखिए, ये पक्षी मालूम ही नहीं होते। इनके नथुने भी अजीब जगह पर होते हैं। वे चोंच के सिरे पर स्थित होते हैं, जिससे इन्हें केंचुए आदि कीड़े (जो इनका मुख्य भोजन हैं) तलाश करने में बड़ी सहायता मिलती है। ये हरी-भरी जगहों में रहते और रात को डोलते फिरते हैं तथा ख़तरे के समय तीव्र गति से दौड़ लगाकर भाग सकते हैं। इनकी आवाज़ सीटी के शब्द सरीखी होती है और इसी कारण इनका नाम 'किवी' पड़ा है। इनके अंडे ५ इंच लम्बे और ३ इंच चौड़े होते हैं, जो इनके क़द के लिहाज़ से निस्संदेह काफ़ी बड़े होते हैं। किवी साधारणतः एक बड़ी मुर्ग़ी के आकार का पक्षी होता है।

ज़मीन पर दौड़नेवाले पक्षी

आइए, अब दौड़नेवाले पक्षियों के वर्ग का परिचय आपको दें, जिसके एक सदस्य शुतुर्मुर्ग़ को हम सभी भली भाँति जानते हैं। ये प्राणी दक्षिणी गोलार्द्ध में विशेष तौर से पाये जाते हैं, यद्यपि सच्चे शुतुर्मुर्ग़ विषुवत् रेखा के उत्तर में ही मिलते हैं। इन सभी पक्षियों के डैने या तो अत्यन्त छोटे होते हैं, या बिल्कुल ही नहीं होते। इनके पंख बहुत ही मुलायम बाल की तरह होते हैं। डैने की डाँडियाँ (quills) उड़नेवाली चिड़ियों की डाँडियों से एक बात में ख़ास तौर से भिन्न होती हैं। वह यह कि इन दौड़नेवाले पक्षियों के डैने के पर एक दूसरे से गुँथे नहीं होते। इसी वर्ग का एक पक्षी था मोआ (Moa), जिसकी लगभग २० जातियाँ किसी ज़माने में न्यूज़ीलैंड में प्रचुरता से पाई जाती थीं। तीन-चार सौ वर्ष हुए मावरी लोगों ने इसके वंश का बिल्कुल उन्मूलन कर

कैसोवरी (Cassowary) और ऐमू (Emu)

उड़ने में असमर्थ पक्षियों के वर्ग में ऑस्ट्रेलिया तथा उसके आसपास के द्वीपों के निवासी कैसोवरी और ऐमू नामक ज़मीन पर दौड़ लगानेवाले पक्षी शुतुर्मुर्ग को छोड़कर संभवतः सबसे बड़े पखेरू हैं। इनकी गर्दन लम्बी होती है और इनके पैरों में केवल तीन ही उँगलियाँ होती हैं। दुम नहीं के बराबर होती तथा डैने भी अत्यन्त छोटे होते हैं। पंख एकदम बालों जैसे मुलायम और डैने दुहरे

मालूम पड़ते हैं। इनके छोटे डैने, जिनमें पंख की डाँडियाँ पतली तीलियों की तरह लगी होती हैं, तेज़ी से भागने में इनको काफ़ी सहायता पहुँचाते हैं।

कैसोवरी की लगभग १० जातियाँ होती हैं। इनमें उत्तर-पूर्व आस्ट्रेलिया में पाये जानेवाले कैसोवरी आकार में सबसे बड़े अर्थात् लगभग ५ फ़ीट ऊँचे होते हैं। अन्य जातियाँ न्यूगिनी तथा आस्ट्रेलिया के उत्तर के अन्य कुछ द्वीपों में पायी जाती हैं। ये पक्षी अत्यन्त फुर्तीले तथा शीघ्रगामी होते है। अपनी मज़बूत टाँगों से शत्रु को ठोकर मारकर ये अपनी रक्षा करते हैं। इनके शिर पर शिरस्त्राण जैसी एक विचित्र कलगी-सी लगी रहती है तथा सिर और गरदन दोनों ही निर्लोम एवं चटकीले रंग के होते हैं। दौड़नेवाले पक्षियों की सौन्दर्य-प्रतियोगिता में कैसोवरी को निस्सन्देह प्रथम पुरस्कार मिलेगा, क्योंकि उसकी आसमानी, लाल एवं हरे रंग की चिकनी सपाट गर्दन और सिर की शोभा निलौहे काले चमकदार पंखों के संयोग से एक विचित्र सौंदर्य की छटा बाँध देती है। ये प्राणी साधारणतया सघन वनों में रहते हैं।

कैसोवरी की भाँति ऑस्ट्रेलिया का सुप्रसिद्ध पक्षिराज ऐमू भी अत्यंत शीघ्रगामी और बड़ी मज़बूत टाँगोंवाला प्राणी होता है। किन्तु उसके सिर पर कैसोवरी जैसी कलगी नहीं होती न उसका रूप-रंग ही उतना सुंदर होता है। ऐमू की दो जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें से एक ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप के पूर्वीय और दूसरी पश्चिमीय प्रदेश में मिलती है। दोनों का क़द पाँच फ़ीट से अधिक होता है। ये प्राणी खुले मैदानों में रहते और बड़ी तेज़ दौड़ लगाते हैं। किसी शत्रु से पाला पड़ने पर ये भी कैसोवरी या शुतुर्मुर्ग की तरह टाँगों से ठोकर मारकर अपनी रक्षा करने का प्रयास करते हैं। इनके संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें नर से मादा आकार में बड़ी होती है और नर बहुभोगी न होकर केवल एक ही मादा के प्रति अनुरक्त रहता है। शिकारियों के चंगुल से बचने के लिए अब यह भीतरी जंगलों की शरण लेने लगा है।

संसार का सबसे बड़ा पक्षी—अफ़्रीका का शुतुर्मुर्ग

इसकी ऊँचाई कभी-कभी आठ फ़ीट तक पहुँचती है। अफ़्रीका के सभी जानवरों में इससे अधिक तीव्र गति से दौड़नेवाला दूसरा प्राणी नहीं है। यह पचीस-पचीस फ़ीट तक छलाँगें भर सकता है।
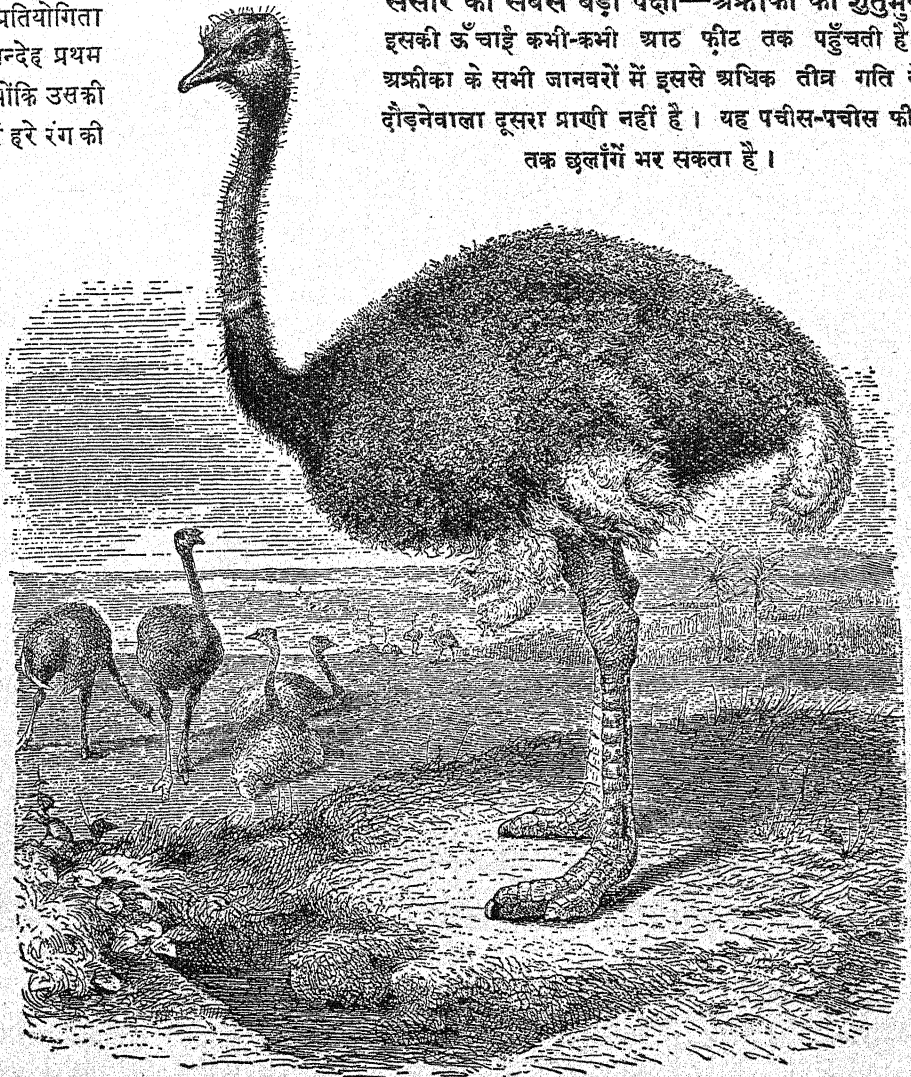
अफ्रीका और अमेरिका के शुतुर्मुर्ग

अमेरिकन शुतुर्मुर्गों की तीन प्रमुख जातियाँ हैं। इनके पैर में केवल तीन उँगलियाँ होती हैं और ये दक्षिण अमेरिका के घास के मैदानों में अधिकांश पाये जाते हैं। इनके डैने काफ़ी बड़े होते हैं। यद्यपि उड़ने के मतलब के ये नहीं होते, फिर भी हवा में आगे बढ़ने के लिए ये पाल का काम देते हैं। ये पक्षी अफ्रीकन शुतुर्मुर्गों से आकार में बहुत छोटे होते हैं और इनके पंख भी उतने सुन्दर नहीं होते। ह्री (Rhea) इस जाति का प्रमुख शुतुर्मुर्ग है, जिसका चित्र इसी पृष्ठ पर प्रदर्शित है।

प्राचीन काल में दक्षिण अमेरिका एक विशाल टापूनुमा महाद्वीप था, और इन दिनों मांसाहारी स्तनपायी प्राणियों का विकास उत्तरी गोलार्द्ध के भूमिखंड पर हो रहा था। इसी कारण दक्षिण अमेरिका में मांसाहारी स्तनपायी जीव कम पाए जाते हैं। आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड की भाँति दक्षिण अमेरिका में भी परिस्थितियाँ इस ढंग की मिलीं कि पक्षियों ने उड़ना छोड़कर स्थलजीवन ही अपनाया। प्रस्तर-चिह्नों से पता चलता है कि पूर्वकाल में इस महाद्वीप के धुर दक्षिणी भाग पेटेगोनिया में न उड़नेवाले पक्षियों की अनेक जातियाँ मौजूद थीं। इनमें से एक की खोपड़ी तो दो फ़ीट चौड़ी मिली है!

अफ्रीका के शुतुर्मुर्ग की भी तीन जातियाँ हैं—एक दक्षिण अफ्रीका में पायी जाती है, दूसरी पूर्व अफ्रीका में और तीसरी (साधारण शुतुर्मुर्ग) उत्तर की ओर अरब, सीरिया और मेसोपोटामिया में। किसी ज़माने में मध्य एशिया में भी यह पक्षी पाया जाता था। यह सभी पक्षियों से क़द में ऊँचा होता है—कभी-कभी इसकी ऊँचाई आठ फ़ीट तक पहुँचती है। अफ्रीका का अन्य कोई भी जानवर इसके बराबर तेज़ दौड़ नहीं लगा सकता। दौड़ते समय यह अपने डैनों का प्रयोग पाल की तरह करता और एक छलाँग में २५ फ़ीट का फ़ासला पार कर लेता है। अन्य दौड़नेवाले पक्षियों के मुक़ाबले में इसके पैर विशेष रूप से विकसित होते हैं। इसके पैरों में केवल दो ही उँगलियाँ होती हैं, जिनमें से एक दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ी होती है। मरुभूमि या खुले मैदान में अपनी रक्षा के निमित्त अपनी सामाजिक सहज वृत्ति के अनुसार ये पक्षी छोटी-छोटी टोलियों में रहते हैं। इनकी तीव्र घ्राण-शक्ति तथा तीक्ष्ण दृष्टि भी शत्रुओं से सचेत करने में इन्हें काफ़ी सहायता पहुँचाती है। दुश्मनों से घिर जाने पर जब इनके लिए अन्य कोई चारा बाक़ी नहीं रहता, तो ये अपनी चोंच और टाँगों से ही अपनी रक्षा करते हैं। ऐसी अवस्था में ये अपनी टाँगों से दाहिने-बायें बलपूर्वक ठोकर लगा सकते हैं। शुतुर्मुर्ग के पर बड़े क़ीमती होते हैं और वे धनाढ्य लोगों द्वारा तकिए, गद्दी आदि में भरने तथा सजावट के लिए काम में लाये जाते हैं। इन्हीं परों के लिए अफ्रीका के चरागाहों में शुतुर्मुर्ग काफ़ी बड़ी संख्या में पाले जाते हैं—वे प्रायः बड़े-बड़े घेरों या अहातों में घेरकर रक्खे जाते हैं।

अमेरिकन शुतुर्मुर्ग—ह्री

यह अफ्रीका के शुतुर्मुर्गों से आकार में छोटा होता है और इसके पंजों में तीन उँगलियाँ होती हैं जब कि अफ्रीका के शुतुर्मुर्ग में सिर्फ़ दो ही होती हैं।
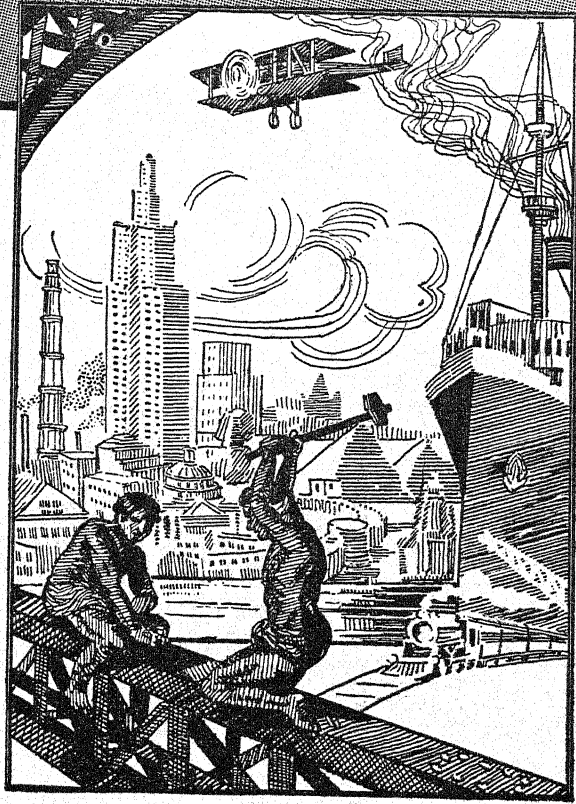
मनुष्य की कहानी
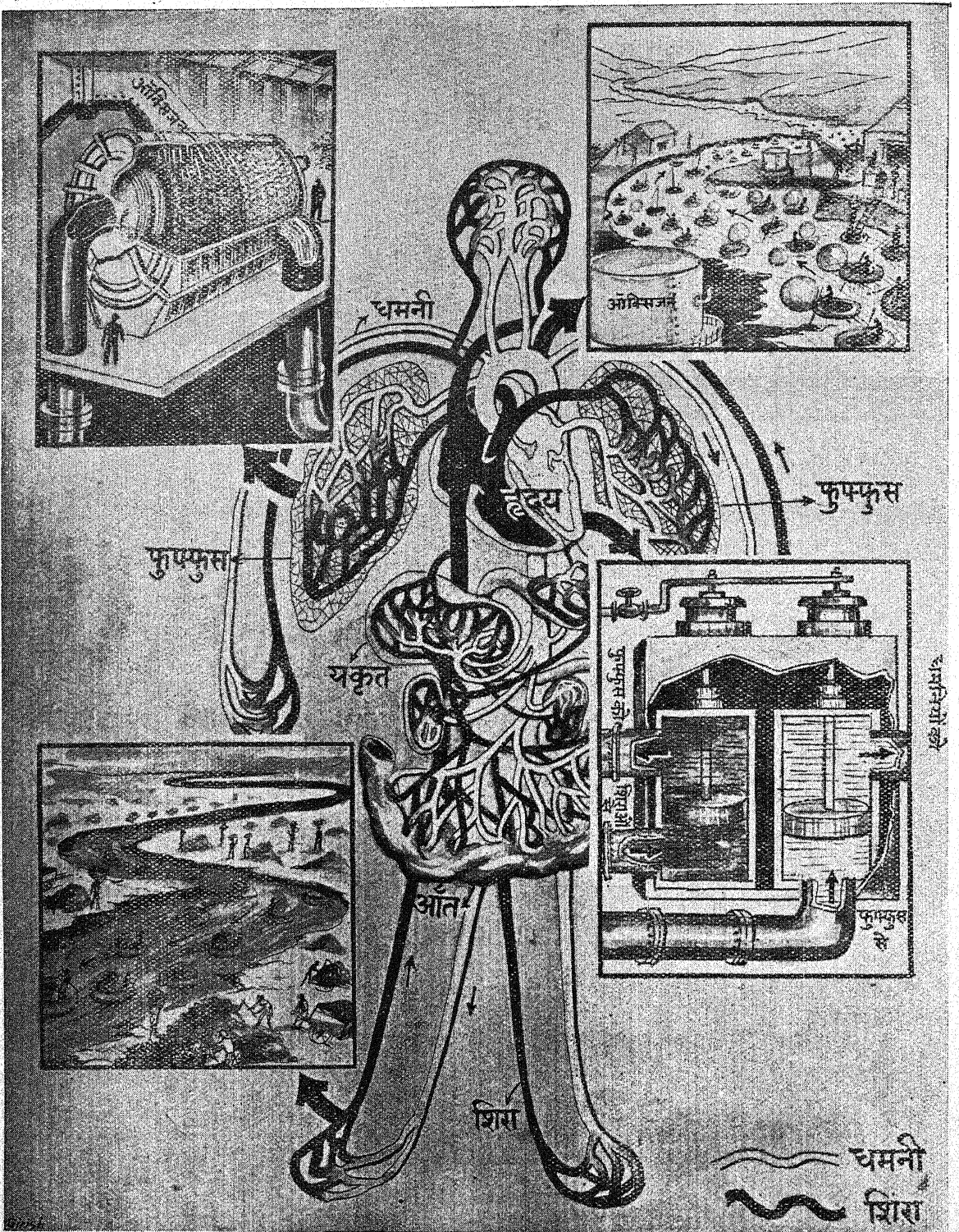
हमारे जीवन की प्राणवाहिनी स्रोतस्विनी—रुधिर-धारा

ऑक्सिजन तथा पौष्टिक तत्त्वों से भरपूर शुद्ध रक्त हृदयरूपी पंप द्वारा परिचालित हो धमनियों के रास्ते सारे शरीर में पहुँचता और विभिन्न अंगों को रसद पहुँचाकर कूड़ा-कर्कट बटोरते हुए श्याम रंग की शिराओं के रास्ते जब वापस हृदय के पंपिंग स्टेशन में आता है तो पंप करके फुफ्फुस के कारखाने में भेज दिया जाता है, जहाँ साँस द्वारा ऑक्सिजन से संयुक्त होकर पुनः शुद्ध बन जाता और हृदय द्वारा पुनः धमनियों में प्रवाहित कर दिया जाता है। प्रस्तुत चित्र में प्रतीकों द्वारा इसी क्रम का दिग्दर्शन किया गया है। देखिए, धमनी में प्रवाहित शुद्ध रक्त की नदी में लाल कण रूपी नौकाएँ किस प्रकार ऑक्सिजन तथा पौष्टिक तत्त्वों से लदी चली जा रही हैं और शिरा के रास्ते वही अपना माल ढोकर कूड़े-कर्कट से लदी हुई वापस लौट रही हैं! इस धारा का रंग धमनियों में तो लाल रहता और शिराओं में आने पर श्यामल हो जाता है।
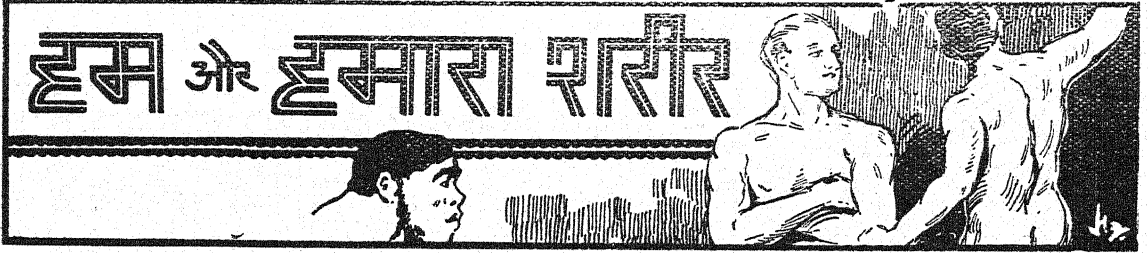
रक्त-संचालन-प्रणाली—(१)

जीवन की रक्तिम स्रोतस्विनी—रुधिर-स्रोत

"लाल, गहरे रक्त वर्ण की जीवन की यह उष्ण सरिता, अपनी सहस्र-सहस्र नलिकाओं द्वारा हमारे शरीर में हितकर तथा अहितकर सभी प्रकार के द्रव्यों को प्रवाहित करनेवाली; द्रवों में सबसे अद्भुत, सबसे अमूल्य तथा सबसे चटकीले द्रव की यह स्रोतस्विनी; खारे महासागर की कन्या जैसी, किन्तु उस महोदधि से भी अधिक वन्दनीय.........ऐसी ही है हमारी यह रुधिर-धारा।" विश्वविख्यात ब्रिटिश जीव-वैज्ञानिक सर रे लैन्केस्टर की ये रुधिर के प्रति उद्गार की पंक्तियाँ कितनी मार्मिक और उपयुक्त हैं! आइए, इस लेख में इसी आश्चर्यजनक द्रव के बारे में कुछ हाल जानने का प्रयास करें।

रुधिर, वायु तथा भोजन

हम अपने शरीर-रूपी यंत्र और उसकी कार्य्यप्रणाली के अध्ययन के सिलसिले में पहले देख चुके हैं कि शरीर की बाढ़ की आवश्यकताएँ पूरी करने तथा हड्डी और मांस-पेशियों के छीजने पर उनकी मरम्मत तथा उनके पुनर्निर्माण के लिए हम भोजन करते हैं। हमारी पाचन-प्रणाली इस भोजन को परिवर्त्तित करके इस योग्य बना देती है कि वह बृहत् आँतों की दीवालों के रुधिर में जज़्ब हो सके। हमने यह भी देखा है कि हमारे शरीर के कोषों को आक्सिजन के एक नियत आयतन की नियमित रूप से आवश्यकता होती है। जिस प्रकार अग्नि बिना वायु के जल नहीं सकती, उसी प्रकार कोष भी आक्सिजन के बिना जीवित नहीं रह सकते। यह गैस फेफड़ों की पतली झिल्लियों में से साँस लेते समय गुज़र-गुज़र कर भीतर रक्त में पहुँचती है। दूसरे शब्दों में हम जानते हैं कि हमारी पाचन-प्रणाली रक्त की कमी पूरी करती एवं हमारे फेफड़े उसे ताज़ा आक्सिजन पहुँचाते हैं। साराँश यह कि हमारी पाचन-प्रणाली, श्वसन-प्रणाली तथा रक्त-संचालन-प्रणाली एक दूसरे पर अभिन्न रूप से निर्भर हैं, और वे मिलकर अद्भुत रूप से एक संयुक्त योजना द्वारा काम करती हैं, जिससे शरीर-रूपी यंत्र अपना काम सुचारु रूप से करता रहता है।

आँतों में पचाई हुई खाद्य सामग्री के पौष्टिक तत्त्वों से भरपूर रक्त पहले शरीर के 'शुद्धीकरण के महान् कारख़ाने'—यकृत—में पहुँचता है, जो तीनों श्रेणी के खाद्य-पदार्थों के बीच (जिनका उल्लेख हम विश्व-भारती के पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं) समतुलन क़ायम रखता है। यकृत खाद्य पदार्थ से जज़्ब की गई साधारण चीनी को एक विशेष जैव स्टार्च 'ग्लिकोजेन' के रूप में परिणत करके सञ्चित रखता है। बाद में इसी सञ्चित राशि से आवश्यकता पड़ने पर उचित मात्रा में वह शरीर को चीनी देता रहता है। इस प्रकार रुधिर में चीनी की मात्रा लगभग सदैव ही एक-सी बनी रहती है। मांसपेशियों में भी ग्लिकोजेन सञ्चित रहती है, और इसी प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों में चर्बी भी सञ्चित रहती है, किन्तु प्रोटीन का सञ्चय जैव तन्तुओं के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं होता।

अतः हम देखते हैं कि रुधिर आँतों में से शरीर के कोषों को तन्तु-निर्माण करनेवाले पदार्थ तथा उपर्युक्त ईंधन पहुँचाता है, जो फेफड़ों द्वारा ग्रहण की गई आक्सिजन के साथ संयुक्त हो हमारे शरीर की अग्नि को प्रज्वलित रखता है। इस प्रज्वलन-क्रिया के अंत में जल तथा कार्बन-डाइआक्साइड गैस बनती है। ये दोनों ही पदार्थ तन्तुओं से रुधिर में चले जाते हैं। जल रुधिर में से त्वचा के रास्ते स्वेद अथवा वाष्प के रूप में बाहर निकलकर उड़ जाता है, साथ ही फेफड़ों की दीवालों तथा गुरदों के द्वारा भी उसका अधिकांश हमारे शरीर से बाहर निकल जाता है। और कार्बन डाइआक्साइड

समूची की समूची ही पुनः फेफड़ों में पहुँचकर हमारे प्रश्वास के साथ बाहर निकल जाती है। अतएव रुधिर का यही मुख्य कार्य्य प्रतीत होता है कि वही शरीर के अन्दर प्रधान पौष्टिक द्रव्यों तथा अहितकर कूड़े-कचरे का वाहक है। शरीर के अन्दर जहाँ-कहीं भी कोष मौजूद हों, बाह्य जगत् से उनका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध बना रहना आवश्यक है—अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए उन्हें अन्य पदाथ ग्रहण करने ही होंगे तथा जो वस्तु उनके काम की न होगी उसे त्याज्य रूप में बाहर निकाल फेंकना भी होगा। यह महत्त्वपूर्ण कार्य्य रुधिर द्वारा ही सम्पादित होता है, जो शरीर के लगभग सभी भागों में प्रवाहित होकर पहुँचता है।

रुधिर की धारा

रुधिर की तुलना हम उस नदी से कर सकते हैं जो किसी प्रदेश में सहस्रों धाराओं में होकर बहती है और इस प्रकार उस प्रदेश के प्रत्येक भाग को सींचने में समर्थ होती है। रुधिर की धारा जब शरीर के विभिन्न तन्तुओं से होकर गुज़रती है तो प्रत्येक श्रेणी के कोष अपनी आवश्यकता के पदार्थ रुधिर में से ले लेते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदी के किनारे के विभिन्न पौधे नदी से अपनी निज की ज़रूरत के पौष्टिक पदार्थ ग्रहण कर लेते हैं। रुधिर एक स्वतंत्र बहनेवाला तरल पदार्थ है। वह धारा के रूप में बहता है, जैसा कि हम प्रायः अनुभव करते हैं जब दुर्घटनावश सुई या चाकू के लग जाने पर हमारे शरीर या उँगली से रक्त का प्रवाह होने लगता है। किन्तु इस रुधिर रूपी नदी की धारा बहुत बड़ी या लंबी-चौड़ी नहीं है। तीव्र गति से दिन प्रति दिन वर्षों तक अपने उसी मार्ग में बँधी हुई यह बार-बार चक्कर लगाया करती है। अनुमान लगाया गया है कि एक वयस्क व्यक्ति के अन्दर उसके शरीर के वज़न का १३वाँ भाग रुधिर का होता है—अतः डेढ़ मन के मनुष्य के शरीर में लगभग ५ सेर रुधिर मौजूद होता है। किन्तु रुधिर की मात्रा का पूर्णतया सही अन्दाज़ हम नहीं लगा सकते, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों के शरीर में रुधिर की मात्रा का अनुपात घटता-बढ़ता रहता है। आयतन के विचार से औसत क़द के मनुष्य के शरीर में लगभग पाँच-छः क्वार्ट या १० पाइन्ट रुधिर रहता है। इसमें से लगभग एक चौथाई तो हृदय, फेफड़े तथा बड़े रुधिर-संस्थानों में पाया जाता है, पुनः एक चौथाई यकृत में, तीसरा चतुर्थांश शरीर की ठठरी की मांसपेशियों में तथा बचा हुआ एक चौथाई अंश शरीर के अन्य अंगों में। यह चुल्लूभर रक्त वर्ण का द्रव आश्चर्य्यजनक तीव्र गति से हमारे शरीर में दौड़ लगाता है। रुधिर के प्रवाह की गति दिन के विभिन्न पहरों में बदलती रहती है। तीव्र गति से प्रवाहित होते समय तो समूचे शरीर का दौरा लगाने में इसे केवल १५ सेकंड ही लगते हैं—अर्थात् प्रति मिनिट वह हमारे हृदय में से चार बार होकर गुज़रता है! इस हिसाब से रुधिर-प्रवाह की गति प्रति घंटे सात मील ठहरती है। किंतु जब सामान्य गति से प्रवाह होता है तो उस समय इसे शरीर का पूरा चक्कर करने में ३० सेकंड लगते हैं। एक वैज्ञानिक ने हिसाब लगाया है कि ७० वर्ष के जीवन में एक साधारण मनुष्य की शिराओं से ४०००००० मील लम्बी रुधिर की धारा प्रवाहित होती है। और डा० रोनाल्ड मैक्री के अनुसार साल भर में हृदय को ३६५ मील की दूरी तक रुधिर पम्प करके भेजना पड़ता है—अर्थात् एक दिन में एक मील!

अतः स्पष्ट है कि रुधिर एक अत्यन्त ही तीव्र वेग से प्रवाहित होनेवाली नन्हीं-सी सरिता है, जो हम सभी के लिए संसार की सबसे महत्वपूर्ण तथा पवित्रतम धारा है। यदि हमारे शरीर के अन्दर इसका प्रवाह रुक जाय तो हमारी जीवनलीला ही समाप्त हो जायगी। तो फिर आइए, हम इसके बारे में और जानकारी प्राप्त करें और देखें कि यह अमूल्य द्रव—रुधिर—किन-किन पदार्थों से बना है।

रुधिर किन पदार्थों से बना है?

इस रक्त वर्ण की धारा का रहस्योद्घाटन करने के लिए आपको दूर किसी लंबी यात्रा पर जाने की ज़रूरत नहीं। उँगलियों के छोर पर शुद्ध की हुई पिन की नोक ज़रा घुसेड़ दीजिए, बस फ़ौरन् रुधिर की कुछ बूँदें निकल आएँगी। इन्हें शीघ्र एक अणुवीक्षण यंत्र के नीचे रखकर इनका निरीक्षण कीजिए—आपको इसकी असलियत का ज्ञान हो जायगा। साधारणतः केवल एक रंग के दिखलाई पड़नेवाले इस द्रव में आपको असंख्य नन्हें-नन्हें ठोस ज़र्रे लगभग रंगविहीन द्रव में तैरते हुए दृष्टिगोचर होंगे। यह रंगविहीन द्रव वैज्ञानिकों द्वारा 'प्लाज़्मा' (Plasma) कहलाता है, तथा उसमें के नन्हें-नन्हें चिपटे गोल आकार के ठोस ज़र्रे **लाल कण** (Red Corpuscles) कहलाते हैं। यदि इस रुधिर को काँच के हलके पर्दे पर रखकर उस काँच को दो-तीन बार उँगलियों से ज़रा हिला दें और तब अणुवीक्षण यंत्र से इसका निरीक्षण करें तो ये लाल कण हमें एक दूसरे से अलग होते हुए दिखलाई पड़ेंगे, किन्तु पुनः शीघ्र ही वे सिक्कों की गड्डियों की भाँति पंक्तिबद्ध

हो जाएँगे, जैसा कि चित्र से प्रकट है। ध्यान देने पर कुछ अन्य प्रकार के कण, जो लाल कणों से आकार में कुछ बड़े होते हैं, उन्हीं के बीच इधर-उधर दिखलाई पड़ते हैं। लाल कणों की अपेक्षा इनकी संख्या कम होती है। ये एक दूसरे से अलग-अलग रहते हैं तथा इनकी आकृति या रूपरेखा भी टेढ़ी-मेढ़ी होती है। शरीर के अन्तर्गत होनेवाली क्रियाओं के फलस्वरूप इनकी आकृति भी बराबर बदलती रहती है। ये **श्वेत कण** (White Corpuscles) कहलाते हैं तथा अणुवीक्षण की दृष्टि-परिधि में दो-चार की ही संख्या में ये दिखलाई पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त प्लाज़्मा में तीसरे प्रकार के अत्यंत छोटे एक और कोष भी पाये जाते हैं—ये कोष सबसे छोटे आकार के होते हैं। श्वेत कणों की अपेक्षा इनकी संख्या अधिक होती है और प्लाज़्मा में ये इधर-उधर बिखरे रहते हैं। ये आसानी से दृष्टिगोचर नहीं होते। इसका कारण हमें आगे चलकर मालूम होगा। इन कणों को वैज्ञानिक रुधिर प्लेट या रुधिर प्लेटलेट् (Platelets) के नाम से पुकारते हैं।

हमारे रुधिर में पाए जानेवाले लाल और श्वेत कण

ये अणुवीक्षण यंत्र द्वारा रुधिर की बूँद का निरीक्षण करने पर देखे जा सकते हैं। लाल कणों की संख्या बहुत अधिक होती है और वे गोल चपटी मुद्राओं के आकार के होते हैं। श्वेत कणों की आकृति टेढ़ी-मेढ़ी होती है और वे लाल कणों के बीच इने-गिने दो-चार ही दिखाई पड़ते हैं। चित्र में दोनों प्रकार के कण प्रदर्शित हैं।

रुधिर के प्रति १०० भागों में ५५ भाग द्रव का होता है, और शेष ४५ भाग इन विभिन्न कणों का। प्रायः प्रति घन मिलीमीटर जगह में ५० लाख लाल कण, ५ लाख प्लेटलेट् और लगभग ५ हज़ार श्वेत कण मौजूद होते हैं। अतः इनका परस्पर अनुपात लगभग १००० : १०० : १ का रहता है। दूसरे शब्दों में प्रति श्वेत कण के पीछे लगभग १०० प्लेटलेट् और १००० लाल कण रुधिर में पाये जाते हैं। आकार में श्वेत कण सबसे बड़े होते हैं—लगभग $\frac{१}{२५००}$ इंच, और प्लेटलेट् सबसे छोटे होते हैं; इनका व्यास $\frac{१}{१०५००}$ इंच के लगभग होता है। लाल कणों का आकार मध्यवर्त्ती है—क़रीब $\frac{१}{३२००}$ इंच। अतएव रुधिर लाल रोशनाई की भाँति एक समांगी घुला हुआ द्रव नहीं है। यह एक रंगविहीन द्रव है जिसमें तीन प्रकार के ठोस कण तैरते रहते हैं। इनमें चूँकि लाल कणों की संख्या अत्यधिक होती है, इसीलिए यह द्रव भी हमें लाल रंग का दिखलाई पड़ता है।

रुधिर का द्रव—प्लाज़्मा

रुधिर का द्रव—प्लाज़्मा—पानी-सरीखा एक द्रव है जिसमें अल्बूमीन (albumen) (जो कि मुख्य पौष्टिक तत्त्व है), अन्य एक अद्भुत पदार्थ जो फाइब्रिनोजन कहलाता है, कुछ चर्बीयुक्त पदार्थ, शर्करा, सोडियम तथा पोटैशियम के लवण एवं यूरिया जैसे कुछ त्यागे हुए मल पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त आक्सिजन, नाइट्रोजन और कार्बन डाइ-आक्साइड नामक गैसें भी उसमें घुली हुई होती हैं। 'फाइब्रिनोजन' की मात्रा अत्यन्त ही कम होती है, अर्थात् केवल ०·२ प्रतिशत, यद्यपि रुधिर के थक्के बाँधने में यही पदार्थ काम देता है। वस्तुतः प्लाज़्मा के तरल भाग में ९० प्रतिशत पानी, ८ से ९ प्रतिशत अल्बूमीनी या प्रोटीड पदार्थ, और १ या २ प्र० श० चर्बीयुक्त द्रव्य और अन्य चीज़ें तथा गैसें रहती हैं। अतः रुधिर का यह द्रव प्लाज़्मा एक मिश्रण है जिसमें कुछ खाद्य पदार्थ, कुछ खनिज लवण, कुछ गैसें तथा त्याज्य मल पदार्थ घुले रहते हैं।

रुधिर में खनिज लवण की उपस्थिति ही उसके स्वाद को कुछ खारा बनाती है। और उसमें जो एक ख़ास प्रकार की गंध आती है वह उसमें मौजूद उपर्युक्त अन्य पदार्थों के कारण ही होती है। प्रायः लोग कहते हैं कि हमारे रुधिर का स्वाद तेज़ाब की तरह खट्टा है, किन्तु यह बिल्कुल ग़लत बात है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो हमारा जीवित रहना सम्भव न था। वस्तुतः रुधिर क्षारीय होता है—यद्यपि अल्पांश में ही—वह तेज़ाब की भाँति अम्लीय तो कभी नहीं होता।

ओषजनवाहक क्षुद्र लाल कण

चिपटे गोल आकार के क्षुद्र लाल कण नन्हीं प्यालेनुमा किश्तियों की भाँति हैं, जैसा कि पृ० २१२६ के चित्र में दिखाया गया है। ये असंख्य किश्तियाँ जब रुधिरधारा के उस मार्ग पर अग्रसर होती हैं, जो धमनी कहलाता है तो ये ऑक्सिजन तथा पोषक तत्त्वों से लदी रहती हैं, जिन्हें ये शरीर के प्रत्येक तंतु तक पहुँचा देती हैं। इस समय उनके रक्त वर्ण के कारण हमारी रुधिर-धारा का रंग भी लाल ही दिखाई देता है, किन्तु जब ये अपना बोझा ढो चुकती हैं तो वापस खाली हाथ नहीं लौटती, बल्कि शरीर का अनेक प्रकार का मल एवं टूटे-फूटे कोषों का कूड़ा-कचरा लादकर शिराओं के रास्ते पुनः हृदय के पंपिंग स्टेशन की ओर आती हैं। उस समय इनके रूप में ललाई के बजाय कुछ श्यामता छा जाती है।

यद्यपि ये कण लाल कण कहलाते हैं, किन्तु अणुवीक्षण यंत्र से देखने पर इनमें से प्रत्येक का रंग पीला दीखता है। केवल समूह में ये लाल रंग के दिखलाई पड़ते हैं, अतः रुधिर भी इन असंख्य कणों की वजह से मानों लाल रंग धारण कर लेता है। चूँकि इन्हें ओषजन ले जाने का काम करना होता है अतः अपने कार्य्य को दक्षतापूर्वक निभाने के लिए यह आवश्यक है कि गैस को शीघ्रता से जज़्ब करने के लिए इनके धरातल का क्षेत्रफल तथा इनका समाव दोनों ही अधिकतम हों। ये दोनों ही बातें गणित के सिद्धान्त से परस्पर विरोधी हैं, क्योंकि अधिकतम धरातल तथा न्यूनतम समाव (आयतन) के लिए सबसे उपयुक्त आकृति चिपटे तवे जैसी होती है; और न्यूनतम धरातल तथा अधिकतम समाव के लिए सबसे उपयुक्त आकृति गोले (sphere) की होती है। अतः समाव और धरातल दोनों को अधिकतम बनाने के लिए इन दोनों की मध्यवर्ती आकृति लेना आवश्यक है—न एकदम चिपटी और न पूर्णतया गोले की आकृति ही। इस प्रकार की आकृति उन्नतोदर ताल (लेन्स) की ही होती है। इसी कारण क्षुद्र योनि के रीढ़धारी जीवों से लेकर पक्षियों तक के समस्त जीवधारियों के रुधिर-कोष लेन्स की भाँति बीच में उभरे हुए तथा किनारे पर पतले होते हैं। इसी बीचवाले मोटे भाग में कोष का केन्द्र (nucleus) होता है। किन्तु स्तनपायी जीवधारियों में, जिनमें मनुष्य भी शामिल है, इन कणों ने अधिक स्थान प्राप्त करने के लिए अपने घर के स्वामी – केन्द्र (nucleus)—का अस्तित्व ही मिटा दिया है! निस्सन्देह यह एक साहसपूर्ण कार्य है। अतः लाल कण मध्य में बहुत-कुछ खोखले हैं तथा इनका व्यास मुटाई से लगभग ४ गुना बड़ा है। वास्तव में ये $\frac{१}{३२००}$ इंच मोटे हैं और इनका व्यास है $\frac{१}{१२००}$ इंच।

लाल कण इतने क्षुद्र आकार के तथा असंख्य क्यों हैं?

समूचे शरीर में ओषजन की पूर्त्ति करने का काम अच्छी तरह करने के निमित्त लाल कणों को बृहत् धरातल की ज़रूरत होती है। एक नियत आयतन के अन्दर इस शर्त्त को पूरी करने के लिए अनिवार्यतः इनकी संख्या अपरिमित तथा इनका आकार क्षुद्रतम होता है। २१३४ पृष्ठ पर दिए गए चित्रों से प्रकट है कि एक निश्चित आयतन को विभाजित करने पर उसके विभाज्य भाग जितने छोटे होंगे उतना ही अधिक धरातल उनसे प्राप्त होगा। लाल कणों के क्षुद्र आकार तथा उनकी अगणित संख्या के इस कारण के अतिरिक्त एक दूसरा कारण यह भी है कि इन्हें कैपीलेरी नामक बाल सरीखी बारीक रक्तवाहिनी नलिकाओं में से प्रायः एक-एक कण की लम्बी पंक्ति में गुज़रना होता है।

इनके क्षुद्र आकार तथा अगणित संख्या का अनुमान आप कुछ मनोरञ्जक गणनाओं से लगा सकते हैं। हिसाब लगाया गया है कि एक बूँद मानव-रुधिर में जिसका आकार आलपिन के सिरे के बराबर ($\frac{१}{६२५}$ घन इंच या $\frac{१}{६२५}$ घन मिलीमीटर) हो ५० लाख से भी अधिक लाल कण पाये जाते हैं। अर्थात् प्रत्येक घन इंच रुधिर में लगभग ८२०० लाख लाल कण मौजूद हैं। इस प्रकार वयस्क मनुष्य के समूचे शरीर में २२०० से २२५० खरब तक इनकी संख्या पहुँचती है। वास्तव में यह संख्या कल्पनातीत है, क्योंकि ईसा के जन्म से अब तक जितने सैकण्ड व्यतीत हो चुके हैं, उनकी संख्या भी १ खरब के १५वें भाग तक मुश्किल से पहुँचती है। इन कणों के

आकार से हिसाब लगाया गया है कि यदि इन्हें एक-एक करके एक लम्बी पंक्ति में खड़ा किया जाय तो शरीर के समस्त लाल कणों से तैयार की गई पंक्ति २ लाख मील से भी अधिक लम्बी होगी और यह दूरी पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी की दो-तिहाई है ! इतनी लम्बी शृंखला पृथ्वी की विषुवत् रेखा पर तीन बार लपेटी जा सकती है और डाकगाड़ी इस लम्बे फ़ासले को बिना कहीं रुके हुए १०० दिन में तय कर पायगी ! यदि इन कणों को चौरस धरातल पर बिछा दिया जाय, तो ये ३३०० वर्ग गज़ धरातल घेरेंगे। इस प्रकार संसार के समस्त मनुष्यों के रुधिर के लाल कणों को बिछाकर पूरे भूमण्डल को ढका जा सकता है।

रुधिर में लाल रंग कहाँ से आया ?

शरीर के रुधिर के भार का लगभग आधा भाग लाल कणों का है। इन लाल कणों में ५७ प्रतिशत भाग जल का तथा ४३ भाग ठोस पदार्थ का होता है। ठोस पदार्थ मुख्यतः होमोग्लोबिन नामक द्रव्य होता है, जिसका प्रधान गुण यह है कि वह सरलतापूर्वक ओषजन ग्रहण कर सकता है तथा उतनी ही आसानी से उसे अपने में से निकाल भी सकता है। इसी होमोग्लोबिन में लोहा भी होता है—बल्कि शरीर भर में केवल इसी पदार्थ में लोहा मौजूद होता है। इस होमोग्लोबिन में लोहे तथा ओषजन के संयोग से ही रुधिर का गाढ़ा लाल रंग उत्पन्न होता है। जॉन रस्किन ने एक स्थान पर लिखा है कि "क्या यह अद्भुत बात नहीं कि यह कठोर तथा मज़बूत धातु (लोहा) हमारे जीवन में इतनी घनिष्ठतम रीति से संयुक्त है कि हम लज्जित होने पर रक्ताभ भी इसकी सहायता के बिना नहीं हो सकते !"

शरीर-कोषों को ओषजन दे देने के उपरान्त रुधिर के लाल कण अपना चटकीला लाल रंग खोकर अधिक गहरे जामुनिया रंग के हो जाते हैं तथा उनमें कुछ कालिमा-सी आ जाती है। हृदय, फेफड़े तथा रुधिर-संस्थानों का एकमात्र उद्देश्य यह होता है कि वे ओषजन को शरीर की विभिन्न पेशियों तक पहुँचाएँ। पेशियों में बनी हुई कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस साधारणतः प्लाज़्मा में घुल जाती है, केवल उसका थोड़ा-सा अंश लाल कणों में मिला रह जाता है। ओषजन के इस आदान-प्रदान तथा इसके फलस्वरूप उत्पन्न हुए परिवर्त्तनों का ही चित्रण इस लेख के आरम्भ में दिए गए चित्र में किया गया है।

लाल कोषों की रोमाञ्चकारी जीवनचर्या

रुधिर का लाल कण केन्द्र (nucleus) से वञ्चित होने के कारण अपने लिए पौष्टिक तत्त्वों का निर्माण करके भरण-पोषण नहीं कर सकता, अतएव १५ से २० दिनों के भीतर ही इसका अत्यधिक कार्य्यशील जीवन समाप्त हो जाता है। लगभग तीन सप्ताह तक यह कण तीव्र गति से हमारे शरीर में भ्रमण करता रहता है; प्रति दिन (२५ सैकंड में एक चक्कर के हिसाब से) ३००० चक्कर यह लगाता है और इस तरह अपने लघु जीवन के तीन सप्ताह में यह शरीर के ६० हज़ार चक्कर लगा लेता है। तदुपरान्त इसकी मृत्यु हो जाती है और इसका शव शरीर के महान् समाधिस्थान 'तिल्ली' में पहुँचा दिया जाता है। यहाँ से लोहे के एक नन्हें नष्टप्राय कण के रूप में या तो यह यकृत में फेंक दिया जाता है, जहाँ यह पित्त को हरा रंग प्रदान करता है, या रुधिर-धारा की गन्दगी के रूप में यह श्वेत अमीबायड (Amoeboid) कणों द्वारा बहा ले जाया जाता है। ये श्वेत कण शरीर के भीतर की गन्दगी को दूर करने के लिए मानों भंगियों का काम करते हैं। इन पर आगे चलकर हम समुचित प्रकाश डालेंगे।

प्रतिदिन एक खरब लाल कोष मृत्युग्रस्त होकर धारा के प्रवाह में से अलग फेंक दिए जाते हैं, और इतनी ही संख्या में उनका स्थान ग्रहण करने के लिए नए कोषों का निर्माण होता है। इन नए कोषों की रचना कहाँ से होती है ? लाल कणों की रचना हड्डी की लाल मज्जा (marrow) में होती है। अपनी उत्पत्ति के समय ये गोल आकार के कोषों के रूप में होते हैं। इस अवस्था में प्रत्येक कोष के बीच एक केन्द्र मौजूद रहता है और जब तक वे पूर्ण रूप से बढ़ नहीं जाते, तब तक वे मज्जा में ही रहते हैं। इसी बीच वे अपने केन्द्र खो बैठते हैं, साथ ही अपने अन्दर अति महत्वपूर्ण होमोग्लोबिन सञ्चय करके वे लेन्स जैसी चिपटी आकृति धारण कर लेते हैं। हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में एक करोड़ नवजात लाल कण हड्डियों के मज्जारूपी सुरक्षित बंदरगाह से निकलकर उन कणों का स्थान ग्रहण करने के लिए बाहर निकलते हैं, जिनके शव रुधिर-धारा में बह चुके होते हैं। क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि हड्डी-सरीखी कठोर वस्तु इतने अतिशय कोमल कोषों का निर्माण करने में समर्थ होती है ?

इन ओषजनवाहक कणों के सम्बन्ध में एक और

दिलचस्प बात यह है कि विविध व्यक्तियों की आवश्यकतानुसार नये कणों की उत्पत्ति की संख्या भी घटती-बढ़ती रहती है। जब हम किसी ऊँचे पहाड़ पर चढ़ते हैं या वायुयान पर बैठकर ऊँचे आकाश में जाते हैं तो वहाँ हमें विरल वायु मिलती है और प्रत्येक बार श्वास लेने पर हमें अपेक्षाकृत कम मात्रा में ओषजन प्राप्त होती है। इस कारण वहाँ हमारे शरीर में कणों का आकार अपेक्षाकृत छोटा हो जाता है तथा उनकी संख्या बढ़ जाती है। कहते हैं कि १३ हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर समुद्र के धरातल की अपेक्षा हमारे शरीर के लाल कणों की संख्या डेढ़गुनी हो जाती है।

हमारे शरीर-रक्षक और सफ़ाई के जमादार अर्थात् श्वेत कण तथा प्लेटलेट

श्वेत कण सच्चे अर्थ में कोष कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक के अन्दर उसका निज का केन्द्र रहता है। यह पदार्थों को अपने अन्दर जज़्ब करने की सामर्थ्य रखता है और अपनी इच्छानुसार हर दिशा में भ्रमण करता है। यह अपने आकार को अभिवर्द्धित करके अपने को दो भागों में विभाजित भी कर सकता है। लाल कोषों के प्रतिकूल यह अपने अंग को भीतर समेट भी सकता है तथा उन्हें कल्लों (pseudopods) के रूप में बाहर की ओर निकालकर अपनी आकृति भी बदल सकता है। कभी यह एकदम गेंद की तरह गोल तो कभी लम्बी शक्ल धारण कर लेता है। ये कण मानव शरीर में स्वेच्छानुसार हर कहीं विचरण करते हैं। इसी कारण ये परिव्राजक कोष या 'अमीबाइड सेल' (Amoeboid cell) कहलाते हैं।

यह भी देखा गया है कि ये कण रक्त-संस्थानों की दीवालों को भेदकर पास के तन्तुओं तक पहुँच जाते हैं। ये विभिन्न प्रकार के होते हैं, जिनमें प्रत्येक अपना निज का महत्वपूर्ण काम पूरा करता है। ये रक्त-प्रवाह के मार्ग की रुकावटें दूर करते हैं—मानों सड़क पर झाड़ू लगानेवाले ये भंगी हों! साथ ही ये ही हमारे शरीर-रक्षक का भी कार्य करते हैं।

जब कभी रोग-कीटाणु हमारे शरीर में प्रवेश कर जाते हैं, तब श्वेत कण रक्तधारा से निकलकर उस अंग में पहुँच जाते हैं जहाँ पर रोग-कीटाणु मौजूद होते हैं, और शरीर की विभिन्न क्रियाओं की सहायता से ये उन रोग-कीटाणुओं को चारों ओर से घेरकर उनका भक्षण कर डालते हैं। कभी-कभी ये विजातीय द्रव्य श्वेत कणों द्वारा जज़्ब नहीं किये जा सकते, ऐसी दशा में बाहर फेंक दिये जाते हैं। शरीर के अंगों में या त्वचा पर चोट लगने पर भी इसी प्रकार की क्रिया सम्पन्न होती है। ये परिव्राजक कोष अगणित संख्या में उस स्थान विशेष पर दौड़कर पहुँच जाते हैं, और शत्रु-कीटाणुओं को परास्त कर उन्हें खा जाते हैं तथा मरे हुए अथवा विनष्ट तन्तुओं को अपने में जज़्ब करके वहाँ की गन्दगी दूर कर देते हैं। फेफड़े में पहुँचनेवाले धूलिकणों पर भी आक्रमण करके ये उन्हें खा जाते हैं। हड्डियों के निर्माण तथा रुधिर का थक्का बाँधने का काम भी इन्हीं कणों द्वारा सम्पादित होता है।

देखिए, एक श्वेत कण शरीर पर आक्रमण करनेवाले रोग-कीटाणु को अपने में जज़्ब करके किस प्रकार उसे खा जाता है।

श्वेत कण तथा प्लेटलेट (जिसका ज़िक्र आगे किया जा रहा है) लाल कणों से भिन्न काम पूरा करते हैं। ये हमारे शरीर की पुलिस, स्थल-सेना तथा जल-सेना सभी कुछ हैं, क्योंकि ये ही बाह्य पदार्थों तथा रोग-कीटाणुओं को गिरफ़्तार कर उन्हें बाहर भगा देते हैं तथा तन्तुओं और रुधिर-धारा में निरन्तर घूम-घूमकर पहरा देते हैं। यही धूल या गंदगी को दूर करते तथा घायल अंगों को पुनः स्वस्थ बनाते हैं। प्रकृति के आश्चर्यजनक सुप्रबन्ध के फलस्वरूप आकस्मिक विपदा का सामना करने के लिए श्वेत कणों की संख्या भी अपरिमित रूप से बढ़ जाती है। इस प्रकार विजातीय शत्रु से लोहा लेने के लिए इस शीघ्रगामी सेना की शक्ति बात की बात में बढ़ायी जा सकती है। किन्तु कभी-कभी बाहर से आक्रमण करनेवाले इन कीटाणुओं की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि हमारे श्वेत कण रूपी रक्षक अपनी अधिकतम संख्या में भी इनका मुक़ाबला करने में असमर्थ रहते हैं, तभी हम रोगग्रस्त हो जाते हैं।

श्वेत कणों का जीवन-काल चन्द सप्ताह में समाप्त

हो जाता है। इन मृत कणों का स्थान ग्रहण करने के लिए लिम्फ (Lymph) नामक अन्य एक द्रव से निरन्तर नए श्वेत कण रक्त में पहुँचते रहते हैं। इस नूतन द्रव लिम्फ के बारे में इस अध्याय के अन्तिम भाग में आप पढ़ेंगे।

रुधिर प्लेटलेट्

रुधिर में पाये जानेवाले रक्तकणों की यह तीसरी जाति है। लाल तथा श्वेत कणों के अनुसंधान के बहुत दिनों बाद प्लेटलेटों का पता चला, क्योंकि ये इतने नाजुक स्वभाव के होते हैं कि प्रति बूँद रुधिर में ६ लाख से अधिक होते हुए भी ये इस तीव्र गति से अपना अंग-विश्लेषण कर डालते हैं कि जब तक रक्त-बूँद को आप अणुवीक्षण यंत्र के नीचे रखकर उसका निरीक्षण करें, तब तक इन ६ लाख कणों में से एक भी वहाँ मौजूद नहीं रहता। अत्यन्त सतर्कता से काम लेने पर ही रुधिर-कोषों के बीच-बीच दन्दानेदार हाशियेवाले या दीर्घ-वृत्ताकार आकृति के इन प्लेटलेटों को पहचाना जा सकता है। इनकी आकृति स्थिति के अनुसार कभी तवे-सी चिपटी तो कभी अंडे जैसी दीर्घ-वृत्ताकार होती है।

रुधिर के लाल कणों को लालिमा प्रदान करनेवाले हेमोग्लोबिन नामक महत्त्वपूर्ण पदार्थ के रवे

ये अणुवीक्षण यंत्र में जैसे दिखाई पड़ते हैं, उससे कई गुना परिवर्द्धित करके यहाँ दिखाए गए हैं।

नई वैज्ञानिक खोज के अनुसार प्लेटलेट् भी रोग-कीटाणुओं से हमारी रक्षा करते हैं तथा रुधिर का थक्का बँधने में सहायता देते हैं। दुर्घटनावश या जान-बूझकर ज़ख्मी किए जाने पर जब रक्तवाहिनी नलिकाएँ कट जाती हैं तो इन्हीं प्लेटलेटों की बदौलत रुधिर ज़ख्म के रास्ते से सबका सब नहीं बह जाता। जब प्लेटलेटों की संख्या कम होती है या वे बिल्कुल ही अनुपस्थित होते हैं, तब प्रायः तरह-तरह की सूजन हमारे अंगों में पैदा हो जाती है। इसीलिए जब कभी हमें भोजन के रूप में विटामिनयुक्त चर्बीवाले पदार्थ नहीं मिलते, तब हमारे रुधिर में प्लेटलेटों की संख्या फ़ौरन् ही कम हो जाती है और हमारे शरीर में जगह-जगह फोड़े-फुंसियाँ फूट-फूटकर निकलने लगती हैं। दूध, मक्खन या कॉडलिवर तेल के रूप में पुनः विटामिन ग्रहण करने पर प्लेटलेटों की संख्या फिर से पूर्ववत् बढ़ जाती है और सूजन तथा फोड़े-फुन्सियाँ भी मिट जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य्य-रश्मियों के अभाव से भी प्लेटलेटों की संख्या गिर जाती है। अँधेरे में रखे जानेवाले जानवरों के रुधिर में प्लेटलेटों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो जाती है, जिसके फलस्वरूप वे निर्बल तथा सुस्त पड़ जाते हैं। धीरे-धीरे सूर्य्य-रश्मियों के पुनः संसर्ग से उनके रुधिर में प्लेटलेटों के इन विचित्र कोषों की संख्या फिर पूरी हो जाती है और पुनः पिछले स्वास्थ्य और शक्ति को वे प्राप्त कर लेते हैं।

रुधिर का थक्का बँधना

अब हम रुधिर के थक्का बँधने की महत्वपूर्ण क्रिया पर प्रकाश डालेंगे, क्योंकि यह क्रिया मनुष्य की जीवन-रक्षा के लिए अत्यावश्यक है; अन्यथा रक्तवाहिनी नली, तन्तु आदि के कट जाने पर या गहरी चोट लगने पर रक्त का प्रवाह संभवतः कभी भी न रुक पाता।

यह सभी के अनुभव की बात है कि ताज़े रुधिर की बूँदें पूर्णतया तरल होती हैं, किन्तु शरीर से बाहर निकलने के तीन या चार मिनट के भीतर ही रक्त इतना गाढ़ा हो जाता है कि वह बह नहीं सकता। इसी क्रिया को थक्का बँधना कहते हैं। इस क्रिया में श्वेत कण, प्लेटलेट तथा प्लाज़्मा में मौजूद कुछ अन्य पदार्थ भाग लेते हैं। प्लेटलेटों की विशेषता यह है कि रुधिर-संस्थानों से बाहर आते ही उनके केन्द्र (nuclei) विभाजित हो जाते हैं। तब प्रोटोप्लैज़्म में एक फेन-सा उठता है तथा कोष एक दूसरे से संयुक्त होकर एक हो जाते हैं। इसी बीच मानों जादू के ज़ोर से अकस्मात् कुछ रेशे रुधिर में प्लेटलेटों के पर्दों के बीच-बीच प्रकट हो जाते हैं और उन्हें बारीक़ जाली की भाँति चारों तरफ़ से ढक
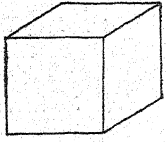
एक इंच लंबी भुजावाले इस समचतुर्भुज पिण्ड के धरातल का आजू-बाजू तथा ऊपर-नीचे का कुल क्षेत्रफल ६ वर्ग इंच होता है।
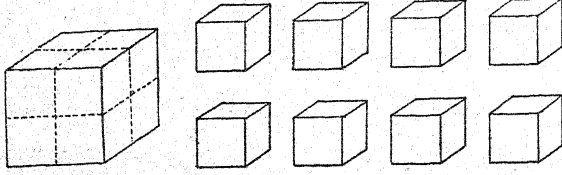
यदि उपर्युक्त पिंड को हम इस प्रकार विभाजित करें तो हमें आधी-आधी इंच लंबी भुजावाले आठ समचतुर्भुज पिण्ड मिलेंगे, जिनके समूचे धरातल के क्षेत्रफल की जोड़ १२ वर्ग इंच होगी।
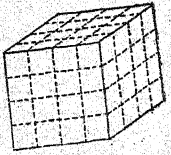
उक्त आठों खण्डों को यदि पुनः हम ऊपर लिखे अनुसार विभाजित करें तो पाव इंच लंबी भुजावाले कुल मिला कर ६४ समचतुर्भुज पिण्ड बन जाएँगे, जिनके समूचे धरातल की जोड़ २४ वर्ग इंच होगी। गणित के नियमों के इस चमत्कार को समझकर रुधिर के लाल कणों की छोटी आकृति तथा अपरिमित संख्या का रहस्य अच्छी तरह हमारी समझ में आ जाता है। इस तरकीब द्वारा प्रकृति ने इन कणों को निश्चित घनत्व ही में अधिक धरातल प्रदान कर अधिकाधिक ऑक्सिजन ग्रहण करने योग्य बना दिया है।
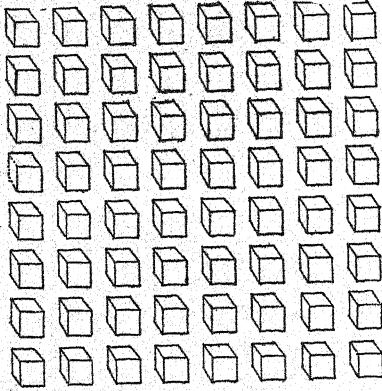
लेते हैं। ये कोष तथा रक्त के लाल कोष एक दूसरे से सम्बद्ध होकर चिपचिपी 'जेली' (jelly) सरीखा रूप धारण कर लेते हैं। तरल द्रव या तो बाहर धरातल पर पसीज आता है या भीतर ही कोषों और रेशों के बीच फँसा रहता है। अब वह बह नहीं सकता। इस प्रकार उसका थक्का बँध जाता है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि ये रेशे आते कहाँ से हैं?

रक्त के प्लाज़्मा में चूना (lime) तथा अन्य एक पदार्थ फ़ायब्रिनोजन (Fibrinogen) सदैव मौजूद रहता है। इसके अलावा श्वेत रक्त-कणों में एक और अद्भुत पदार्थ प्रोथ्रोम्बिन (Prothrombin) वर्त्तमान रहता है। जब रक्त-संस्थानों को चोट पहुँचती है, केवल तभी यह पदार्थ रक्त में घुले हुए चूने के संसर्ग में आता है और तब थ्रोम्बिन या थ्राम्बोजेन (Thrombogen) बनता है, जो फ़ायब्रिनोजन के साथ रासायनिक क्रिया करके उसे ठोस फायब्रिन रेशों में परिवर्त्तित कर देता है। ये सभी क्रियाएँ बड़ी तीव्र गति से सम्पादित होती हैं, क्योंकि क़रीब तीन मिनट के अन्दर-अन्दर रक्त का थक्का बँध जाता है। इस प्रकार रक्त की फटी हुई थैलियों का मुँह बन्द हो जाता है और उसका प्रवाह रुक जाता है। यांत्रिक या रासायनिक उपचार इस क्रिया के अधिक जल्दी होने में ही सहायता पहुँचाते हैं, किन्तु वस्तुतः प्रत्येक दशा में प्लेटलेट् की मदद अनिवार्य है।

कुछ ऐसे व्यक्ति भी पैदा होते हैं, जिनके रुधिर में थक्का बँधने की शक्ति नहीं होती और यदि उनके शरीर के किसी अंग में कट जाने के कारण चोट पहुँचे तो रक्त का प्रवाह निरंतर जारी रहता है—रुकता ही नहीं। कदाचित् उनके रुधिर में या तो प्लेटलेट् बिल्कुल ही नहीं होते या उनकी संख्या अपर्य्याप्त होती है। उनकी इस कमी को हेमोफीलिया (Haemophilia) की बीमारी के नाम से पुकारते हैं। यह हमारे लिए सौभाग्य की बात है कि साधारणतः रक्त-संस्थानों में हमारे रक्त के गाढ़ा होने या थक्का बँधने की सम्भावना नहीं रहती, अन्यथा हम जीवित ही नहीं रह सकते। साथ ही यह भी कम सौभाग्य की बात नहीं है कि चोट लगने के थोड़ी ही देर के भीतर रक्त का थैलियों के बाहर थक्का बँध जाता है और इस प्रकार रक्त के अतिशय प्रवाह के कारण मृत्यु होने से हम बच जाते हैं।

लिम्फ़ (Lymph)

रुधिर-धारा से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाला एक और महत्त्वपूर्ण द्रव हमारे शरीर के तन्तुओं में नन्हीं थैलियों में बन्द पाया जाता है। इस द्रव को वैज्ञानिक लिम्फ़ (Lymph) के नाम से पुकारते हैं। यह एक पारदर्शक तथा हलके पीले रंग का द्रव है, जो त्वचा के चोट खाने पर तुरन्त ही रिसता है। अनुमान किया जाता है कि क्षुद्र नलियों (capillaries) की दीवालों में से होकर रक्त के द्रव पदार्थ के निकलने से इसका निर्माण होता है। शरीर

के तमाम अंगों से लिम्फ धीरे-धीरे रिसकर लिम्फैटिक थैलियों में आता है, जो नन्हीं-नन्हीं गोल या अण्डाकार गिल्टियों में से होकर निकलती हैं। ये गिल्टियाँ बगल, जंघा, घुटनों के पीछे तथा जबड़ों के नीचे, फेफड़ों की जड़ में तथा आमाशय में होती हैं।

ये गिल्टियाँ मटर के दाने से लेकर बादाम तक के आकार की होती हैं तथा अनेक कोषों एवं रेशेदार तन्तुओं से बनी होती हैं, जिस प्रकार कि नलियों में बन्द श्वेत रक्त कण। इन कोषों की संख्या निरन्तर बढ़ती रहती हैं और इनमें से कुछ लिम्फ के साथ चले जाते हैं जो गिल्टियों में बहता रहता है। अंत में इन लिम्फैटिक थैलियों का द्वार शिराओं से मिल जाता है। इस प्रकार गिल्टियों से निकलकर लिम्फ के साथ श्वेत कोष रुधिर में पहुँच जाते हैं। अतः इसी क्रिया के अनुसार लिम्फ से श्वेत कण रुधिर में पहुँचते हैं।

रोग-कीटाणु (घ) हमेशा वातावरण में मौजूद रहकर हमारी त्वचा (च) से टकराते रहते हैं। जब किसी दुर्घटनावश ऊपरी चमड़ी के कटने से हमारे शरीर में घाव हो जाता है तो तुरंत रक्त में थ्रोम्बिन पैदा हो जाता है और फायब्रोजन के ठोस फायब्रिनों में परिणत होने की क्रिया द्वारा घाव के ऊपर रक्त का थक्का बँध जाता है, साथ ही श्वेतकण घाव की दुरुस्ती में लग जाते हैं।

विषाक्त गैसों का प्रभाव

दुर्भाग्यवश कार्बन मानोक्साइड नामक गैस (जब कोयला परिमित वायु में जलता है, तब यह गैस उत्पन्न होती है) रुधिर के रंगीन पदार्थ होमोग्लोबिन में आक्सिजन की अपेक्षा १४० गुना अधिक मात्रा में जज़्ब हो जाती है और फलतः रुधिर का रंग मनोहर चटकीला लाल (cherry red) हो जाता है। साथ ही कार्बन मानोक्साइड एवं रुधिर का संयोग इतना घनिष्ठतम होता है कि वे आसानी से अलग नहीं किये जा सकते। यदि कोई व्यक्ति बन्द कमरे में सो रहा हो, जिसमें कोयला जल रहा है, तो वह श्वास लेने की क्रिया में आक्सिजन तथा कार्बन मानोक्साइड दोनों ही फेफड़ों में खींचेगा। प्रत्येक बार श्वास लेने में कार्बन मानोक्साइड आक्सिजन की अपेक्षा १४० गुना अधिक मात्रा में रुधिर के लाल कणों में जज़्ब होगी और इस प्रकार उन्हें बेकार बना देगी। ज्यों-ज्यों अधिक संख्या में स्वस्थ तथा शुद्ध लाल कोष फेफड़े के संसर्ग में आते जायँगे त्यों-त्यों इस दूर न किये जा सकनेवाले विजातीय बोझ से वे लदते चले जायँगे। फलस्वरूप वे मरे हुए कोषों से किसी अर्थ में बेहतर नहीं रह पायँगे। इस प्रकार आक्सिजनवाहकों की कमी हो जाने के कारण इस व्यक्ति का दम घुटने लगेगा। तब उसके मस्तिष्क का श्वास-परिचालन-सम्बन्धी केन्द्र छाती के श्वसन-यंत्र को आदेश देगा कि 'गहरी साँस लो'। पर जब नींद में पड़ा हुआ व्यक्ति इस आदेश का पालन करेगा तो यह शत्रु गैस उसके फेफड़ों में और भी अधिक मात्रा में पहुँचने लगेगी, यहाँ तक कि जीवन-प्रदायिनी आक्सिजन गैस की कमी के कारण वह महसूस करने लगेगा कि उसका गला घुट रहा है और उसकी नींद खुल जायगी। किन्तु बहुधा ऐसा तभी होता है जबकि दशा औषधि-उपचार के परे हो जाती है, मनुष्य के मस्तिष्क में विष मिल चुका होता है, उसकी इन्द्रियों की शक्ति शिथिल हो चुकी होती है और स्मरण-शक्ति भी नष्ट हो चुकी होती है। फलतः उसे सुधि नहीं रहेगी कि वह कहाँ पर है। वह बिस्तर से उठकर कमरे में बेसुध शराबी की भाँति लड़खड़ाकर गिर पड़ेगा और कमरे से बाहर निकल सकने के पूर्व ही उसका दम टूट जायगा।

काला सुवर्ण !

कोयला इस युग का केवल प्रधान ईंधन ही नहीं, प्रत्युत् तारकोल, साफ़्ट कोक, कोल गैस, ग्रेफ़ाइट, अमोनिकल द्रव, बेंज़ौल, पिकरिक ऐसिड, एन्थ्रैसीन तेल, कार्बोलिक ऐसिड, आदि-आदि दर्जनों अति महत्त्वपूर्ण पदार्थों का जन्मदाता भी है। बाईं ओर के मान-चित्र में यही दिग्दर्शित किया गया है कि १०० टन खनिज कोयले से हमें क्या-क्या वस्तुएँ मिलती हैं। नीचे के चित्र में माल-गाड़ियों में लदकर कारख़ानों को जा रहे यंत्रयुग के इस अति मूल्यवान् काले रंग के सुवर्ण का दृश्य है। यदि यह ईंधन यंत्रों और कारख़ानों को न मिले तो कानपुर, अहमदाबाद, बंबई और कलकत्ता जैसे हमारे उद्योग-केन्द्र बिल्कुल उजड़ जाएँ और हमारी रेलगाड़ियों तथा जहाज़ों को भी सदा के लिए अवकाश ग्रहण कर लेना पड़े !
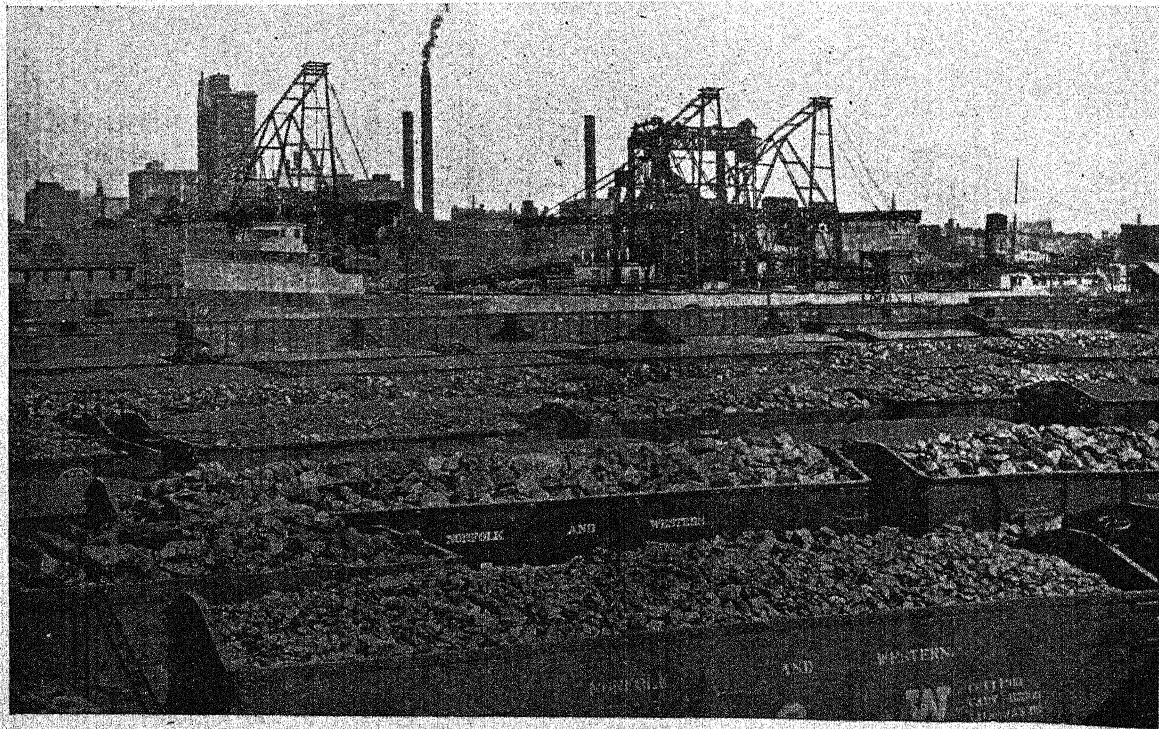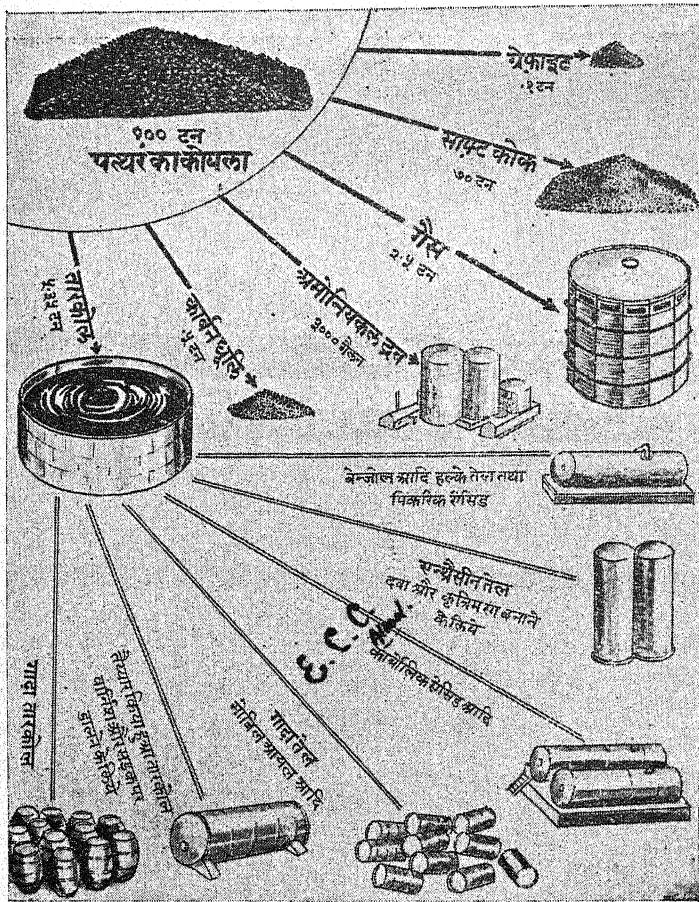
यंत्र-युग का सबसे महत्त्वपूर्ण ईंधन—कोयला

यदि आज पृथ्वी से खनिज कोयला एकाएक ग़ायब हो जाय तो हमारे कारख़ानों, मिलों, जहाज़ों और रेलगाड़ियों की क्या दशा हो ! सचमुच ही कोयला इस यंत्र-युग के लिए सोने से भी अधिक मूल्यवान् है।

बीसवीं शताब्दी के इस यंत्र-युग के निर्माण में खनिज कोयले का स्थान सर्वोपरि है। पृथ्वी के गर्भ से कोयले को निकाले हुए दो सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए, किन्तु इतने थोड़े समय में ही कोयले की सर्वत्र धाक जम चुकी है। कोयले और लोहे ने मिलकर आज संसार में औद्योगिक क्रान्ति मचा दी है।

रोज़मर्रा के कामों में हम कोयले का उपयोग करते हैं। खाना पकाते समय चूल्हे में भी हम कोयला जलाने लगे हैं। हलवाई भी भट्टियों में कोयला जलाता है। और लोहार तो बरसों से कोयले की आग में ही लोहा गलाता रहा है। यही नहीं, लम्बी-लम्बी रेलगाड़ियाँ भी कोयले ही के बल पर द्रुत वेग से देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ती हैं।

यदि और कुछ नहीं तो कम-से-कम अपनी लम्बी आयु के कारण ही कोयला हमारे लिए समुचित आदर का पात्र है। उसके एक छोटे-से टुकड़े को, जिसे आप अँगीठी में जलाते हैं, बनने में करोड़ों वर्ष लगे हैं, और जिस रूप में आप उसे आज देखते हैं, इस रूप को धारण किए हुए भी उसे कई लाख वर्ष हो चुके हैं ! इस प्रकार युगों की धूप और वर्षा की कहानी तथा घने वनों के पृथ्वी के गर्भ में विलीन होने की एक अतीव अद्‌भुत कथा कोयले के इतिहास में निहित है।

योरप की एक कोयले की खदान के सिरे पर प्रस्थापित शैफ़्ट के शीर्ष भाग का भव्य दृश्य

यदि आप शीशम की लकड़ी और पत्थर के कोयले को लें और किसी वैज्ञानिक से इनका विश्लेषण कराएँ कि इन दोनों पदार्थों में कौन-से मूल पदार्थ मौजूद हैं तो वैज्ञानिक आपको बतलाएगा कि दोनों वस्तुओं में कार्बन, आक्सिजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन यही चार मूल पदार्थ पाए जाते हैं ! कोयले में केवल कार्बन का अंश अपेक्षाकृत अधिक होता है। किन्तु इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं, क्योंकि कोयला भी लकड़ी से ही बना है। इस क्रिया में लकड़ी पर मिट्टी का दबाव पड़ने से तथा असह्य गर्मी के कारण उसकी आक्सिजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का बहुत-सा हिस्सा निकल गया है, केवल कार्बन शेष रह गया है।

भूतत्त्ववेत्ता हमें बताते हैं कि आज से करोड़ों-लाखों वर्ष पूर्व पृथ्वी के अनेक भाग लम्बे-लम्बे

भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार कार्बोनीफेरस नामक युग में आज से करोड़ों वर्ष पूर्व पृथ्वी पर ऐसे ही विशाल वृक्षों के वन खड़े थे जो कालान्तर में मिट्टी की तहों में दब गए। उन्हीं के तने की लकड़ी भौगर्भिक गर्मी तथा लाखों वर्ष की रासायनिक क्रिया के फल-स्वरूप क्रमशः कोयला बन गई।

विशालकाय वृक्षों और झाड़ियों के घने जंगलों से ढके थे। गर्मी और वर्षा के कारण इन घने जंगलों में ये झाड़ियाँ सड़-गलकर दलदल-सी बन गईं। इस तरह तनों, टहनियों और पत्तियों के कूड़ा-कर्कट की कई फ़ीट मोटी तह बन गई। इस अरसे में जंगल की ज़मीन बराबर नीचे को धँसती रही। नतीजा यह हुआ कि पास-पड़ोस की झीलों से, नदी से या समुद्र से पानी बहकर वहाँ आने लगा। इस पानी के साथ आई हुई मिट्टी की एक पतली तह भी उसके ऊपर जमा हो चली। कुछ दिनों के बाद इस नई मिट्टी पर भी नये जंगल उग आए, फिर मिट्टी नीचे को धँस चली, और आख़िर वह जलमग्न हो गई। प्रायः बीसियों बार इस क्रिया की पुनरावृत्ति हुई। इस तरह पेड़-पौदों की अनेक तहें ज़मीन के नीचे दब गईं। कालान्तर में ज़मीन के दबाव और गर्मी के कारण इनमें अनेक रासायनिक परिवर्त्तन हुए और इन्होंने कोयले का रूप धारण कर लिया। यही कारण है कि कोयले की खानों में अनेक तहें मिलती हैं। इन्हें 'सीम' कहते हैं और इन तहों के दर्मियान मिट्टी और बालू की तहें पाई जाती हैं। कोयले की ये तहें कई फ़ीट मोटी होती हैं। हमारे देश में झरिया और रानीगंज की खानों में कोयले की कुछ तहें २७ फ़ीट तक मोटी पाई गई हैं। झरिया की खानों में कोयले की बीस भिन्न-भिन्न तहें हैं, जिन्हें एक दूसरे से जलज शिलाएँ अलग करती हैं। किन्तु कहीं-कहीं दो या दो से अधिक तहें मिलकर एक भी हो गई हैं।

कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि भूचाल के कारण पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी टूट गई, और शिलाएँ ऊपर-नीचे हो गईं। ऐसी हालत में पृथ्वी के अन्दर दबी हुई कोयले की चट्टानें प्रायः ऊपरी सतह पर आ जाती हैं, और तब उन तक पहुँचने के लिए हमें गहरी खानें नहीं खोदनी पड़तीं। इस तरह का कोयला इंगलैंड में कई स्थानों पर नदी के किनारे चट्टानों में मिलता है। अक्सर पहाड़ों के ढाल में भी कोयला पाया जाता है।

परिस्थितियों के अनुसार कोयले के गुण में भी अन्तर आ जाता है। मुख्यतः चार भिन्न-भिन्न तरह के कोयले हमें मिलते हैं। कोयले का सर्वप्रथम रूप 'पीट' कोयला है। यह प्रायः दलदलों में वनस्पतियों के एकत्र होकर जल में सड़ने और गलने से बना करता है। यह छूने में मुलायम और भूरे रंग का होता है। इसमें अक्सर उद्भिज पदार्थों के रेशे पाये जाते हैं सच तो यह है कि 'पीट' को अध-कचरा कोयला कह सकते हैं। इसके बाद लिग्नाइट—भूरे कोयले—का नम्बर आता है। यह भी पूर्ण रूप से तैयार हुआ कोयला नहीं है। इसमें पानी का अंश ज़्यादा रहता है। जलने में यह बहुत धुआँ देता है और अन्य कोयलों से हल्का भी होता है, किन्तु इस कोयले का सबसे बड़ा अवगुण यह है कि यह शीघ्र चूर-चूर हो जाता है। इस कारण इसके कण अधिकांश धुएँ के रूप में हवा में उड़कर व्यर्थ में नष्ट हो जाते हैं।

खानों में सबसे अधिक कोयला 'बिटुमिनस' श्रेणी का पाया जाता है। इसका रंग काला होता है और जलते समय यह 'लिग्नाइट' से कम धुआँ भी देता है। यह लिग्नाइट

की अपेक्षा दबाव ज़्यादा खाए रहता है, अतः इसमें से हाइड्रोजन का बहुत-सा अंश निकल चुका होता है। किन्तु फिर भी काफ़ी मात्रा में हाइड्रोजन इसमें मौजूद रहती है, अतः जलते समय इससे चटकीली लौ निकलती है।

इसके बाद कोयले की सबसे उत्तम जाति 'एन्थ्रासाइट' की है। यह क़रीब-क़रीब शुद्ध कार्बन होता है, अतः धीरे-धीरे बिना लौ या धुएँ के यह जलता है और जलने पर बहुत कम राख इसमें से निकलती है। शुरू में 'एन्थ्रासाइट' कोयला देर में आग पकड़ता है। किन्तु इसकी आँच बहुत ही तेज़ होती है और कच्ची धातुओं के गलाने के लिए प्रायः इसका उपयोग किया जाता है।

एन्थ्रासाइट कोयले में ९५% कार्बन होता है। शेष ५% में आक्सिजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन होती हैं। युगों के दबाव से ये शेष ५% गैसें भी निकल जाती हैं और फलतः हमें 'ग्रेफ़ाइट' मिलता है। यह क़रीब-क़रीब पूर्णतः शुद्ध कार्बन होता है, अतएव यह जलता नहीं। पेंसिलों में ग्रेफ़ाइट का ही प्रयोग होता है। कार्बन ही के अन्य एक रासायनिक रूप हीरे का स्थान इससे भी ऊँचा है। यह एकदम शुद्ध कार्बन होता है। इस तरह हम देखते हैं कि एन्थ्रासाइट कोयले से दो ही सीढ़ी ऊँचे चढ़ने पर हमें हीरा मिलता है।

कोयला नये युग की देन है। प्राचीन काल में कोयले का नाम भी कोई नहीं जानता था। परन्तु आज सभी कारोबारी प्रान्तों में कोयले का ही बोलबाला है। लोहे के कारख़ाने, बड़ी-बड़ी फ़ैक्टरियाँ, लम्बी-लम्बी रेलें, जहाज़ सभी कुछ कोयले के बल पर चलते हैं। कोयले पर मनुष्य ने किस तरह विजय प्राप्त की, यह एक मनोरंजक कहानी है। स्वयं हमारे देश में रानीगंज और झरिया की खानों से लाखों टन कोयला प्रति वर्ष निकाला जाता है। इंगलैंड की न्यूकैसिल की कोयले की खानों से तो करोड़ों टन कोयला प्रति वर्ष बाहर निकलता है। किन्तु इन खानों के निर्माण में मनुष्य को भारी क़ीमत चुकानी पड़ी है। कोयला खोदने के आधुनिक ढंग के विकास के इतिहास में तरह-तरह की अड़चनों पर विजय प्राप्त करने की एक लम्बी कहानी निहित है। कोयले की खोज में मनुष्य को ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा, जिसके बारे में उसकी जानकारी नहीं के बराबर थी—हमारा अभिप्राय पृथ्वी के गर्भ से है। इस रास्ते में हर एक मंज़िल पर नई-नई आफ़तों का सामना करना पड़ता था। अतः हर एक नई जानकारी और अनुभव के लिए महँगे दाम चुकाने पड़े। किसी की जान गई तो किसी की हड्डी-पसलियाँ टूट गईं। पहले शुरू में कोयला निकालने के लिए जहाँ कहीं कोयले की 'सीम' ज़मीन के निकट थी, खोह की तरह सुरंगें खोदी गईं और उसी तह को खोदते हुए लोग तिरछे ज़मीन के अन्दर घुसते थे। उन दिनों औरत और बच्चे तक पीठ पर कोयला लादकर बाहर ले आते थे। किन्तु ज़रा गहराई
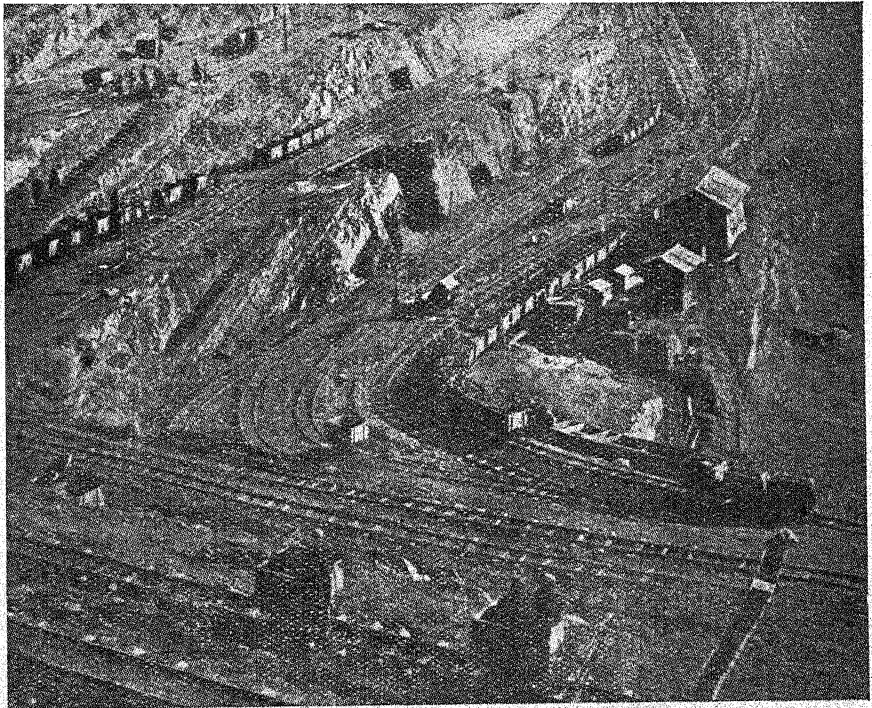
कई स्थानों में भूकंप या अन्य भौगर्भिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप पृथ्वी के ऊपरी स्तरों के उलट-पुलट हो जाने से कोयले की दबी हुई चट्टानें ऊपर निकल आई हैं। ऐसी जगहों में गहरी खानें खोदने की आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि ऊपर ही से कुछ खुदाई करके कोयला निकाला जाता है। प्रस्तुत चित्र में कोयले की ऐसी ही एक खुली खदान का दृश्य है।
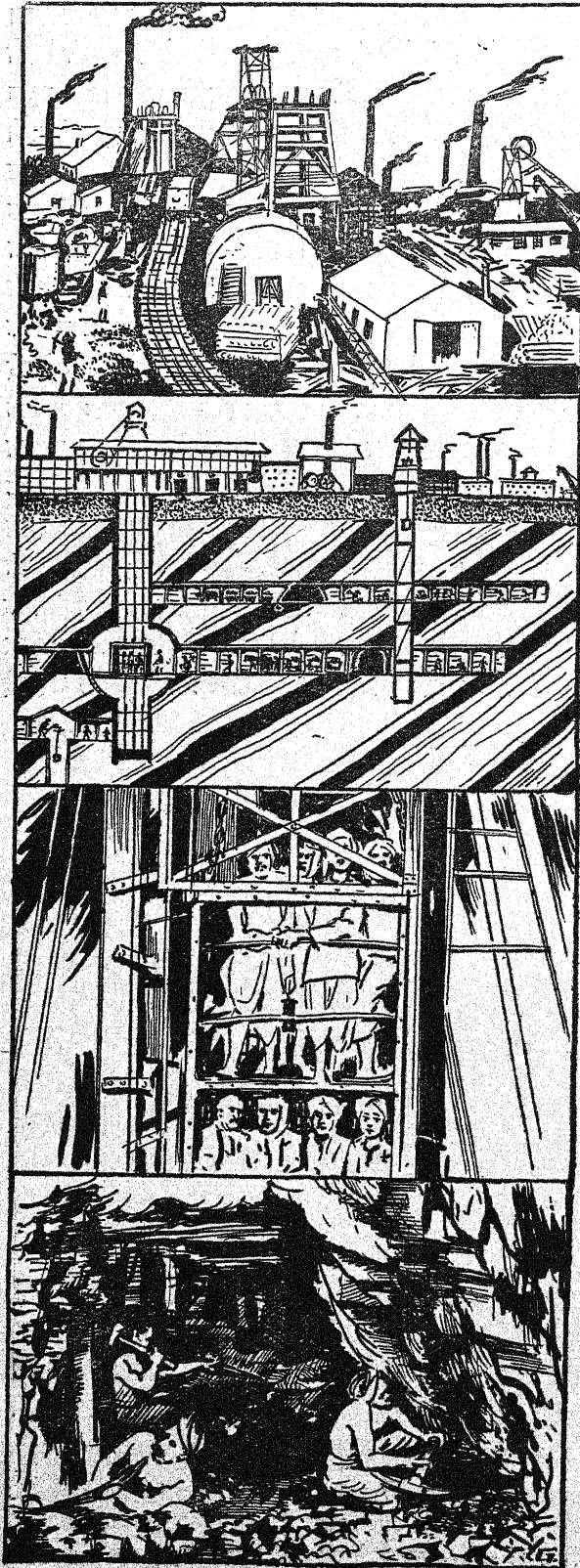
तक पहुँचने पर खान के अन्दर जब पानी मिलने लगा, तभी दिक़्क़तों का श्रीगणेश हुआ। थोड़े दिनों उपरान्त नीचे की तहों तक पहुँचने के लिए जब सीधी, एकदम कुएँ की तरह सुरंगें खोदी जाने लगीं तब तो पानी और अधिक मात्रा में मिलने लगा।

इस पानी के निकालने के लिए पहले तो मामूली पुर की मदद ली गई, फिर रहट की सहायता भी, किन्तु ये तरीक़े कार्यकर साबित न हुए। इङ्गलैण्ड की कितनी ही खानें जलमग्न हो गईं। पानी की आफ़त से खानों की रक्षा करने में लोग बेबस थे। बड़े-बड़े मस्तिष्क इस मुश्किल के हल करने में लगे हुए थे। आख़िर १८वीं शताब्दी के आरम्भ में ही इङ्गलैण्ड के एक इञ्जीनियर न्यू कामेन ने एक ऐसे इंजिन का आविष्कार किया जो खान से पानी को तेज़ी के साथ उलीच सके। तदुपरान्त कोयले से चलनेवाले इंजिन भी बनाए गए, जिन्होंने पानी की समस्या को हमेशा के लिए हल कर दिया। इन वाष्प-इंजिनों का हाल आप पढ़ ही चुके हैं।

कभी-कभी ज़मीन के अन्दर पानी से भरा हुआ दलदल भी मिलता है, और उस दशा में खान खोदते समय पानी को बाहर ही रोकना नितान्त आवश्यक होता है। ऐसी हालत में जिस जगह दलदल मिलता है, वहाँ दो विशालकाय पीपे एक के भीतर दूसरा गला देते हैं और उन पीपों के बीच के दलदल को आधुनिक तरीक़े से ठंडा करके जमाकर बर्फ़-सा कड़ा बना देते हैं, तभी खुदाई का काम पूर्ववत् जारी रक्खा जा सकता है। अब इस जमे हुए दलदल की मिट्टी को खोदकर बाहर निकाल देते हैं और उसी जगह सीमेन्ट और पत्थर की पक्की दीवाल खड़ी कर देते हैं। खान खोदते समय जहाँ-कहीं दलदल या पानीवाली मिट्टी मिलती है, उतनी दूर 'शैफ़्ट' की दीवालों को चूने-पत्थर से पक्की कर देते हैं।

कोयले की कहानी—(१)

ऊपर, एक कोयले की खदान के सिरे पर का दृश्य है, जहाँ से धरती के भीतर खदान में उतरने का रास्ता है। तदुपरांत मानचित्र द्वारा यह दिखाया गया है कि किस प्रकार ज़मीन से सैकड़ों फ़ीट नीचे खदान में सुरंगें बनाई जाती हैं और उनके रास्ते कोयला खोदकर ऊपर पहुँचाया जाता है। इसके बाद एक शैफ़्ट के रास्ते लिफ्ट में बैठकर नीचे को उतर रहे और अंत में खदान में कोयला खोदते हुए मज़दूर दिखाई दे रहे हैं।

ज्यों-ज्यों खानें गहरी होती गईं, नई-नई दिक़्क़तें सामने आने लगीं। खान के अन्दर ऐसी गैसें मिलीं जो ज़रा सी चिनगारी देखते ही भभककर विस्फोट कर जाती हैं। बीसियों बार उन गैसों के विस्फोट होने से खानों में धड़ाका हुआ और सैकड़ों जानें गईं। इसके अतिरिक्त खान के भीतर ताज़ी हवा का पहुँचाना, कोयले को खोदकर काफ़ी मात्रा में बाहर मशीन से निकालना, ये सभी समस्याएँ एकाएक सामने आ खड़ी हुईं।

पहले खान के गर्भ में विस्फोटक गैसों को बाँस के किनारे पर मशाल लगाकर विस्फोट करा लेते थे तब खान में काम करनेवाले लोग घुसते थे। किन्तु यह तरीक़ा कुछ अधिक संतोषजनक न था। खानों के मैनेजर बारबार आग लगने से बहुत ही परेशान रहते थे। आख़िर सर हैम्फ़्री डैवी, जो उस समय के एक प्रमुख वैज्ञानिक थे, बुलाकर लाये गए। उन्होंने खानों का निरीक्षण किया और इस आफ़त से मज़दूरों की रक्षा करने के लिए उन्होंने 'डेवी सेफ्टी लैम्प' का आविष्कार किया। यह लैम्प अब भी खानों के अन्दर काम में लाया जाता है। यह दीपक इस सिद्धान्त पर बना है कि धातु की पतली तार की जाली में से होकर इतनी गर्मी बाहर नहीं जा सकती कि बाहर की गैसों को वह विस्फोट कर सके। सेफ़्टी लैम्प में इसी कारण पतले तार की जाली की चिमनी लगी रहती है। सर हैम्फ़्री डैवी ने इस लैम्प के आविष्कार से हज़ारों-लाखों व्यक्तियों की जान बचाई है।

कोयले की चट्टानों को खोदते समय भी कभी-कभी चिनगारियाँ निकलती हैं, जिनसे गैसों के विस्फोट होने का अन्देशा रहता है, अतः खानों में पानी का छिड़काव प्रचुरता से किया जाता है। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी खान में काम करनेवालों की हमेशा एक टाँग मानों क़ब्र में रहती है। सम्भव है, कार्बन डाइआक्साइड, कार्बन मानोक्साइड या मार्श

कोयले की कहानी—(२)

ऊपर, एक आधुनिक ढंग की खान में मज़दूर मामूली कुदाल के बदले समुन्नत बर्मी विशेष से चट्टान तोड़ रहा है। तदुपरान्त, बिना आदमी की मदद से अपने आप चलनेवाली कोयला खोदने की एक मशीन का चित्र है। इसके बाद, खदान में से पानी निकालने का पंप दिखाया गया है और सबसे नीचे मज़दूर खोदी गई सुरंग में बल्लियाँ और शहतीरें लगाते हुए दिखाई दे रहे हैं।
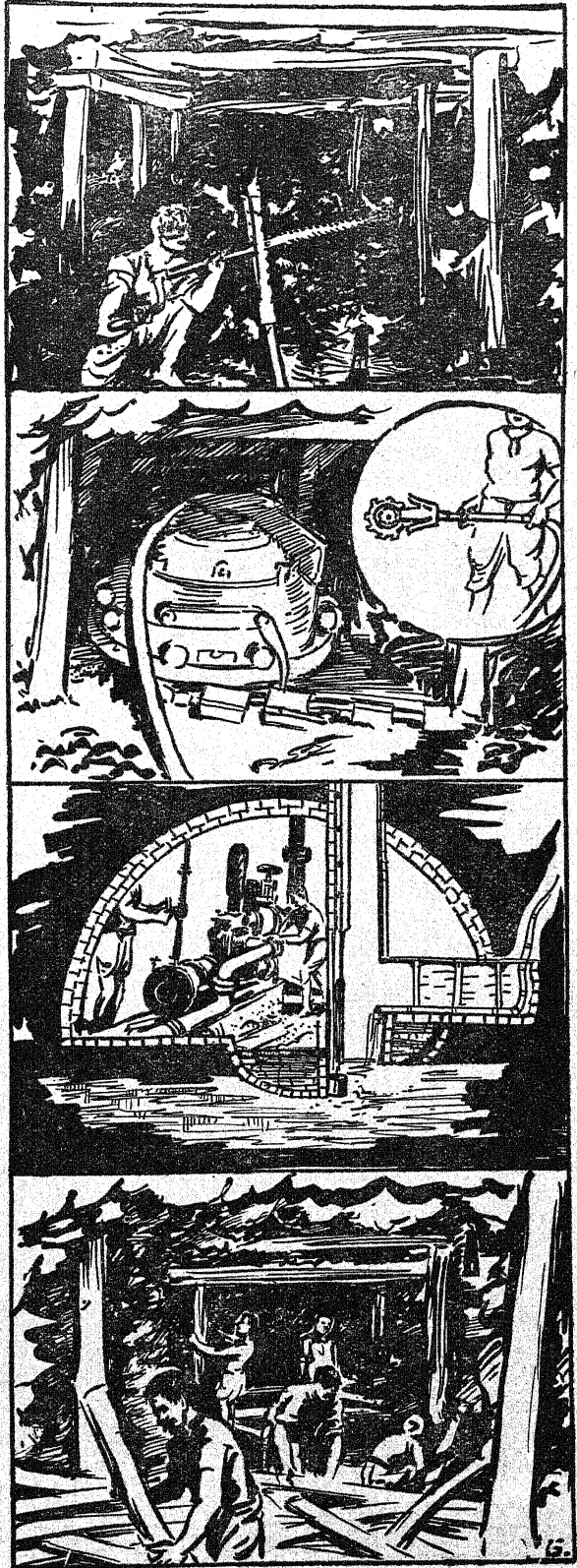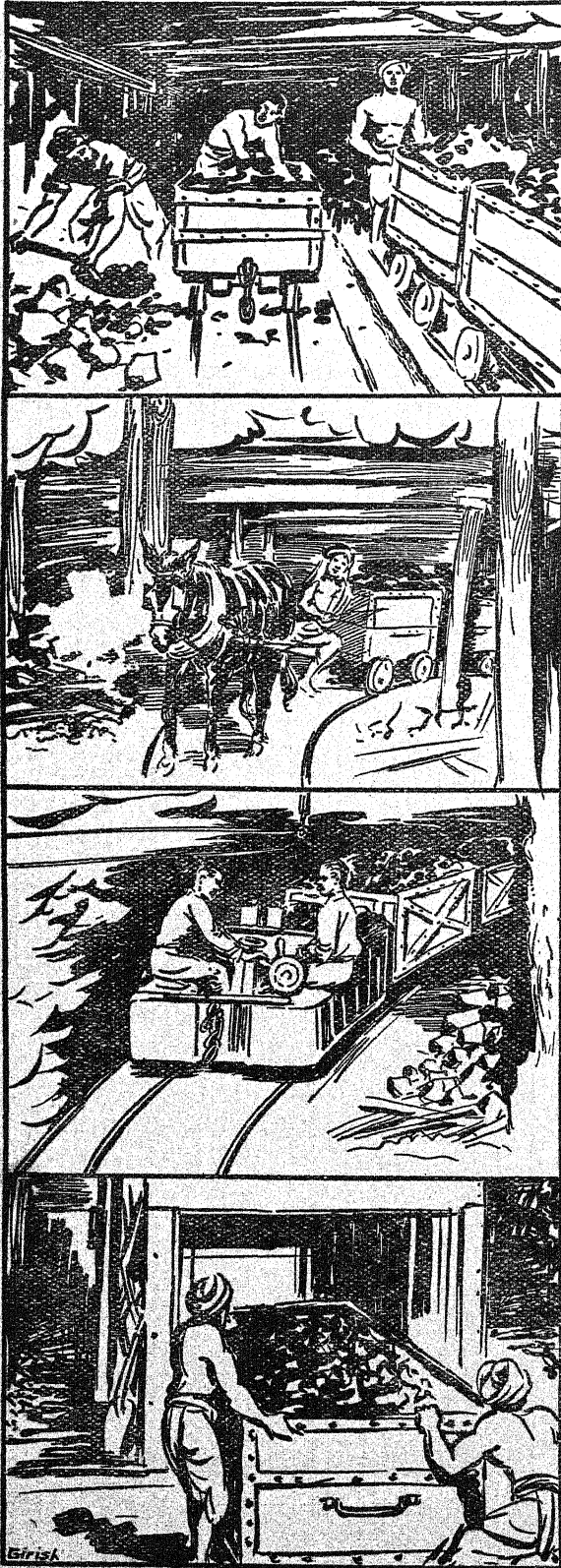
गैस के ज़हर से उनका दम घुट जाय, या खान की छत बैठने से ज़िन्दा ही वे वहीं दफ़न हो जाय। प्रति क्षण खान के मज़दूर को अपनी जान का ख़तरा बना रहता है।

अकेले इङ्गलैंड में क़रीब ८॥ लाख व्यक्ति खानों में काम करते हैं, जिनमें १२००-१३०० प्रति वर्ष उनमें अपनी जान गँवाते हैं, और एक लाख से ऊपर घायल होते हैं। और यह भी उस दशा में जबकि गवर्नमेंएट ने दुर्घटनाओं को रोकने के लिए तरह-तरह के क़ानून बना दिये हैं, और मज़दूरों को भी ख़तरे से बचने की शिक्षा दी जा रही है! कोयले ने निस्सन्देह चमत्कार दिखाया है, पर इसके लिए हर साल अनेक क़ीमती जानें भी हमें गँवाना पड़ती हैं। अमेरिका में अभी हाल में एक यंत्र बनाया गया है, जिसकी सहायता से अति सूक्ष्म मात्रा में मौजूद 'कार्बन मानोक्साइड' को हम मालूम कर सकते हैं।

खान खोदने के लिए पहले लम्बे-लम्बे कुएँ ऐसे कम-से-कम दो शैफ़्ट ज़मीन के अन्दर गलाने पड़ते हैं। इसी रास्ते से खान में कोयले खोदने के लिए हर तरह के औज़ार और मज़दूर नीचे भेजे जाते हैं तथा कोयला भी इसी रास्ते से निकाला जाता है। किन्तु शैफ़्ट गलाने में लाखों-करोड़ों रुपये का ख़र्च होता है, अतः खान की खुदाई शुरू करने के पहले भूतत्त्ववेत्ताओं तथा खनिजविद्या के विशेषज्ञों द्वारा उस स्थान की पूरी जाँच करा ली जाती है और जब यह इतमीनान हो जाता है कि वहाँ पर ज़मीन के नीचे कोयले की 'सीम' काफ़ी गहराई तक मौजूद है, तभी उसमें हाथ लगाते हैं। इस प्रारम्भिक जाँच के सिलसिले में प्रायः जगह-जगह ज़मीन में सूराख़ करने होते हैं। सूराख़ करने के लिए इंजिन द्वारा बर्मी चलाई जाती है। सैकड़ों फ़ीट नीचे जाकर यह बर्मी कोयले की चट्टानों के

कोयले की कहानी—(३)

ऊपर, खोदकर कोयला ट्रालियों में भरा जा रहा है। ये ट्रालियाँ धरातल से सैकड़ों फ़ीट नीचे सुरंगों में लोहे की पटरियों पर कहीं घोड़ों द्वारा तो कहीं बिजली द्वारा परिचालित होती हैं, जैसा कि मध्य के चित्र में प्रदर्शित है। प्रत्येक ट्राली शैफ़्ट के मुहाने पर आकर रुक जाती है, तब धकेलकर एक पिंजड़े में ठेल दी जाती है (दे० निचला चित्र), जो लिफ़्ट के द्वारा शैफ़्ट की राह से धरातल पर ऊपर पहुँचा दिया जाता है।

टुकड़े ऊपर को खींच लाती है। इस तरीक़े से ७००० फ़ीट गहराई तक की ज़मीन की जाँच की गई है।

यदि इस प्रारम्भिक पैमाइश के बाद यह जाँच संतोषजनक साबित हुई तो फिर 'शैफ़्ट' उस जगह गलाई जाती है, जहाँ पर कोयले की 'सीम' सबसे नीची होती है, ताकि खान के भीतर की सुरंगों का ढाल इसी शैफ़्ट की ओर हो। ऐसा होने से पानी वग़ैरह सब कुछ शैफ़्ट की ओर ही ढलकर इकट्ठा होगा और तब इसे आसानी से ऊपर को उलीच सकेंगे। शैफ़्ट के चारों ओर कोयले की सीम के भीतर सुरंगें खोदी जाती हैं। ज्यों-ज्यों कोयला निकलता जाता है, सुरंगें लम्बी होती जाती हैं। इन सुरंगों की छतों को लकड़ी के तख़्तों या लोहे की चद्दरों का सहारा देना आवश्यक होता है, क्योंकि हर घड़ी सम्भावना इस बात की रहती है कि कहीं ऊपर की छत सब कुछ लिये हुए बैठ न जाय और सैकड़ों मज़दूरों को ज़िन्दा दफ़ना दे!

प्रत्येक खान में कम-से-कम दो शैफ़्ट होते हैं—इसलिए कि एक शैफ़्ट यदि चट्टानों के टूटने से या अन्य किसी दुर्घटना के कारण बन्द हो जाय, तो खान में काम करनेवाले लोग दूसरे शैफ़्ट के रास्ते से बाहर निकल सकें। साथ ही खान के अन्दर ताज़ी हवा पहुँचती रहने के लिए भी कम-से-कम दो शैफ़्ट की ज़रूरत होती है। खान के अन्दर ताज़ी हवा साँस लेने के लिए तो चाहिए ही, साथ ही ज़मीन के अन्दर की गर्मी कम करने के लिए भी ताज़ी हवा का पहुँचाना ज़रूरी होता है। एक शैफ़्ट से होकर बिजली के पंखे के ज़रिए ताज़ी हवा खान के अन्दर जाती है और दूसरे शैफ़्ट में पंखा उलटे लगा रहता है, जो हवा को खान के अन्दर से खींचकर बाहर निकालता है; इस तरह खान के अन्दर ताज़ी हवा पहुँचती रहती है।

इन्हीं शैफ़्टों के रास्ते से बराबर पम्प द्वारा पानी भी उलीचा जाता है, वरना खानों में बहिया आ जाय। अनुमान किया जाता है कि प्रति एक टन कोयले के पीछे ८ टन पानी उलीचना ज़रूरी होता है। शुरू

कोयले की कहानी—(४)

ऊपर शैफ़्ट के सिरे पर पहुँचकर कोयला पिंजड़े की ट्राली में से बाहर उँडेला जा रहा है; तदुपरांत वह धोकर साफ़ किया जा रहा है; इसके बाद रेल की खुली वैगनों में भरकर कारख़ानों को भेजा जा रहा है। अंतिम चित्र में वही शक्ति-उत्पादन के लिए इंजिन के बॉयलर के भट्ठे में झोंककर काम में लाया जा रहा है।
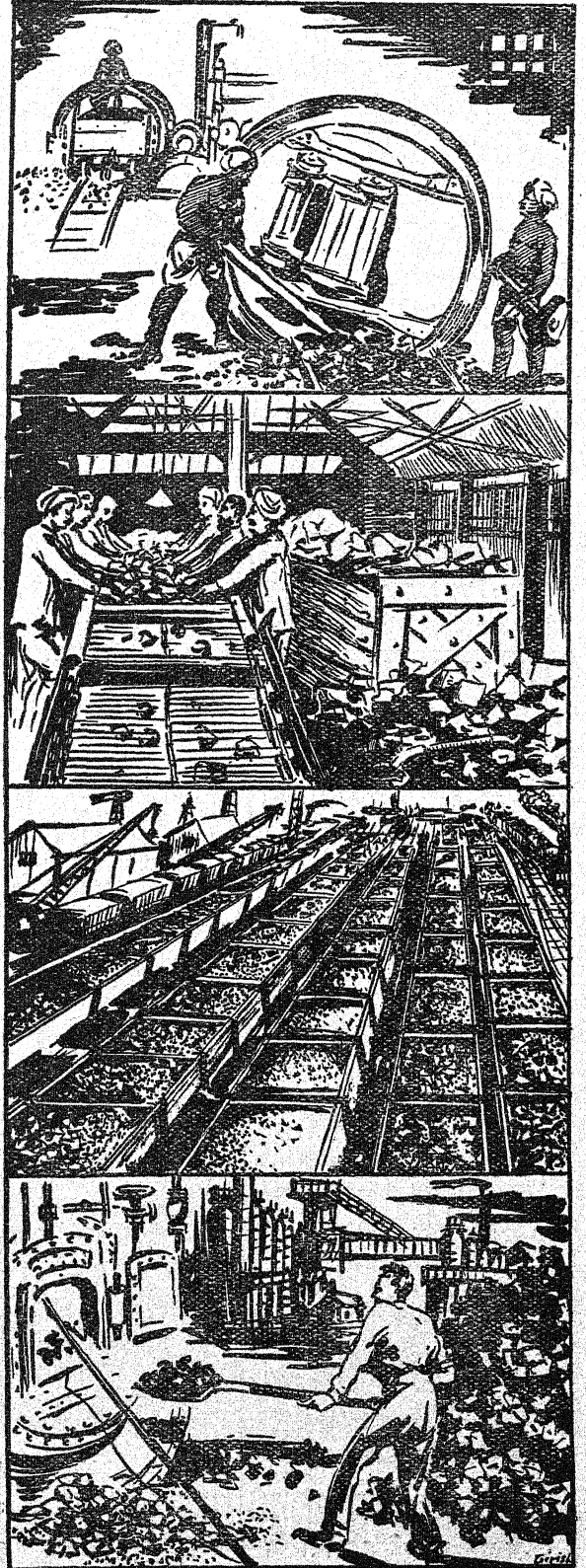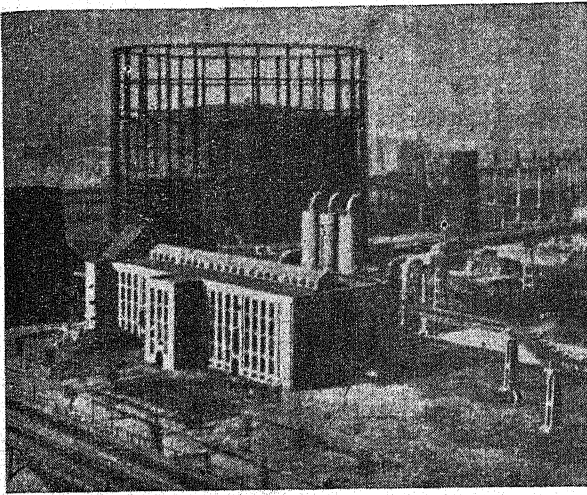
कोयले से विशेष तरीक़ों द्वारा कोल गैस, बेंज़ोल, कोलतार, अमोनिकल द्रव, साफ़्ट कोक आदि कई महत्त्वपूर्ण पदार्थ आज दिन बनाए जाते हैं। इस चित्र में विलायत के एक बेंज़ोल पैदा करने के कारख़ाने का दृश्य है। यह द्रव मोटरों में जलाया जाता है।

में शैफ़्ट के ऊपर सतह पर पम्प लगे रहते थे, जो पानी को नीचे से पाइप के ज़रिए उठाते थे। किन्तु अब पानी उलीचनेवाले पम्प शैफ़्ट के पेंदे में ही एकदम खान के अन्दर लगाये जाते हैं।

खान के अन्दर सुरंगों में रेल की पटरियाँ बिछी रहती हैं। हमारे देश की खानों में ठेलों में कोयले भरकर इन्हीं पटरियों पर ठेलते हुए शैफ़्ट तक मज़दूर ले आते हैं। इंगलैंड में इन ठेलों को घोड़े भी खींचते हैं। शैफ़्ट के रास्ते से बड़े-बड़े बालटों में भरकर कोयला मशीनों के ज़रिए ऊपर खींचा जाता है। अब तो इस काम के लिए भी विद्युत्-शक्ति की सहायता ली जाने लगी है। खान के अन्दर कोयला खोदने का काम हज़ारों मज़दूर करते हैं। अक्सर तो वे सुरंग में लेटकर छिन्नी से कोयले की बड़ी-बड़ी चट्टानें काटते हैं। अब संकुचित वायु से परिचालित बर्मियों से यह काम लिया जाने लगा है। कोयले की बड़ी-बड़ी चट्टानों की जड़ को बड़ी दूर तक काट लेते हैं और इस दरार में बारूद या डायनामाइट भरकर विस्फोट करा देते हैं। इस तरह बड़ी-बड़ी चट्टानें एकदम टूटकर नीचे गिर जाती हैं। इंगलैंड की खानों में तो यह काम भी बिजली की मशीनों से सम्पादित किया जाने लगा है।

योरप की आधुनिक खानों में इस कटे हुए कोयले को एक बड़ा-सा कलछुला (जो किसी मशीन के द्वारा घूमता है) उठाकर एक हरकत करते हुए प्लैटफ़ार्म पर रख देता है। यह प्लैटफ़ार्म इसे ले जाकर पटरी पर खड़ी गाड़ी में गिरा देता है, जो घोड़ों या यांत्रिक शक्ति की मदद से खींचकर शैफ़्ट के नीचे ले आई जाती है। शैफ़्ट के पेंदे से बाहर ज़मीन की सतह पर कोयले के बर्तनों को खींचकर लाने के लिए विद्युत्-शक्ति द्वारा परिचालित लिफ़्ट का प्रयोग किया जाता है।

प्रत्येक कोयले की खान के साथ एक धुलाई का विभाग होता है, जहाँ पर कोयले को खान से निकालने के बाद ही अच्छी तरह धो दिया करते हैं ताकि उसमें लगी हुई मिट्टी तथा कंकड़ आदि धुलकर अलग हो जायँ। इस क्रिया में ट्राम का कोयला एक विशालकाय बेलनाकार बर्तन में उँडेल दिया जाता है। इस बर्तन में लगभग आधी दूर पर अँगीठी के छड़ों की तरह लोहे के छड़ कसे रहते हैं। इन छड़ों के बीच की ख़ाली जगह में से कोयले के चूर नीचे गिर जाते हैं। तदुपरान्त छना हुआ कोयला एक दूसरे बेलनाकार बर्तन में जाता है, जहाँ पर पानी की तेज़ धार में यह अच्छी तरह धुल जाता है। धुले हुए कोयले को आप हाथ में लीजिए तो आपका हाथ मुश्किल से काला होगा।

खान में काम करनेवाले मज़दूरों का जीवन निस्सन्देह ख़तरे से घिरा हुआ है। कदाचित् ही अन्य किसी व्यवसाय में श्रमिकों को ऐसी संकटपूर्ण परिश्रम की ज़िन्दगी व्यतीत करनी पड़ती है। सूर्योदय के पहले ही कड़कड़ाती सर्दी में भी खान का मज़दूर ठीक समय पर खान पर पहुँच जाता है। शैफ़्ट के अन्दर पिंजड़ों में बैठकर चार-चार पाँच-पाँच की टोलियों में ये मज़दूर खान के अन्दर प्रवेश करते हैं। वहाँ बाह्य दुनिया के सम्पर्क से बिलकुल अलग टिमटिमाती बत्तियों के धुँधले प्रकाश में वे आठ घण्टे तक घोर शारीरिक परिश्रम करते हैं। बाह्य जगत् की धूप, सुखद बयार, जन-कोलाहल आदि से दूर ये साहसिक श्रमिक अपनी जान को हथेली पर रखकर कोयले की चट्टानें काटते-गिराते हैं। जब तक वे खान के अन्दर रहते हैं, तरह-तरह के ख़तरों की आशंका उनको निरन्तर अबाध रूप से चौकन्ना बनाये रहती है। प्रतिक्षण उन्हें यह डर बना रहता है कि कहीं किसी ओर से छूटकर अकेली ट्राम बिना किसी प्रकार की सूचना दिये हुए उन्हें

कुचल न दे, अथवा कहीं कोई बिगड़ैल टट्टू लात मारकर उनकी हड्डी-पसली न तोड़ दे। इनके अतिरिक्त खान के अन्दर विस्फोटन तथा पानी में डूबने या चट्टान के नीचे अचानक दब जाने का ख़तरा तो हमेशा बना ही रहता है।

इंगलैण्ड की एक खान का वर्णन एक ब्रिटिश पत्रकार के शब्दों में पढ़िएः—"उस ढालुआँ रास्ते में, जिससे हम नीचे खान के अन्दर गए, ट्राम की लाइनें भी स्लीपरों पर बिछी हुई थीं। स्लीपरों के बीच में कीचड़ भरी हुई थी। इस सुरंग के अन्दर बत्ती के धुँधले प्रकाश में हम धीरे-धीरे अन्धकार को चीरते हुए आगे बढ़ रहे थे। यह ऐन्थ्रासाइट कोयले की खान थी, जिसमें खुली लौ के लैम्प बिना किसी ख़तरे के इस्तेमाल किये जा सकते हैं। रास्ते में कई जगह ट्राम की लाइनों से ठोकर खाकर मैं गिरते-गिरते बचा! मेरे टखने कीचड़ में लथपथ थे, और ऊपर छत से ठण्डा पानी मेरी पीठ पर टपक रहा था। कई बार मेरा सिर सुरंग की नीची छत से टकरा गया, और क़रीब २० मिनट तक मुझे झुककर चलना पड़ा ताकि फिर मेरा सिर छत से न टकरा जाय। अन्त में हम उस स्थान पर पहुँचे जहाँ पर कोयला काटा जा रहा था।

"मैं आशा करता हूँ मुझे फिर कभी खान के अन्दर न जाना पड़ेगा। हद दर्जे की यहाँ ठण्ड थी, और जब कभी मैं खड़े होने की कोशिश करता, ठण्डा पानी मेरे कालर के अन्दर से होकर पीठ तक पहुँच जाता! फ़र्श पर बहते हुए बर्फ़-सरीखे ठण्डे पानी में मज़दूर लेटकर कोयले की चट्टानें काटने का प्रयत्न कर रहे थे, और अपनी हिम्मत बँधाये रखने के लिए वे बराबर मुँह से सीटियाँ बजा रहे थे! कोयले से लदी हुई ट्राम-गाड़ियों को घोड़े बड़े परिश्रम से खींचते हुए ले जा रहे थे। इन थके हुए घोड़ों की श्वास से निकली हुई भाप बादलों के रूप में घनीभूत हो रही थी, साथ ही उनके खुरों से कीचड़ के छींटे इधर-उधर उड़ रहे थे।"

हवा के सम्पर्क से अलग बन्द बर्त्तनों में तपाने से पत्थर के कोयले में से गैस निकल जाती है, और साफ़्ट कोक बच जाता है, जो बिना धुएँ के ख़ूब तेज़ आँच के साथ जलता है। बड़े-बड़े शहरों के अन्दर प्रायः घरों में खाना पकाने के लिए साफ़्ट कोक का ही इस्तेमाल होता है। ऐसा करने से मकान की दीवालें काली नहीं पड़ने पातीं। गैसों के निकल जाने के उपरान्त कोयले में से दो प्रकार के द्रव निकलते हैं—एक पानी-सरीखा द्रव, जो अमोनिकल द्रव के नाम से पुकारा जाता है और दूसरा काले रंग का गाढ़ा द्रव—कोलतार। दोनों द्रव ज़मीन के अन्दर गहरे गड्ढों में इकट्ठे होते हैं—नीचे कोलतार और ऊपर अमोनिकल द्रव तैरता रहता है।

गैस-व्यवसाय के प्रारम्भिक दिनों में कोलतार और अमोनिकल द्रव दोनों ही फ़ज़ूल-सी चीज़ समझी जाती थीं। फ़ैक्टरीवालों की समझ में नहीं आता था कि इनका कैसे इस्तेमाल करें। गैस-व्यवसाय में भी इन द्रवों की ठीक यही परिस्थिति थी, जो दो-चार वर्ष पहले चीनी के व्यवसाय में दुर्गन्धयुक्त शीरे की थी। उन दिनों शीरे से अलकोहोल बनाने की विधि की ओर चीनी की
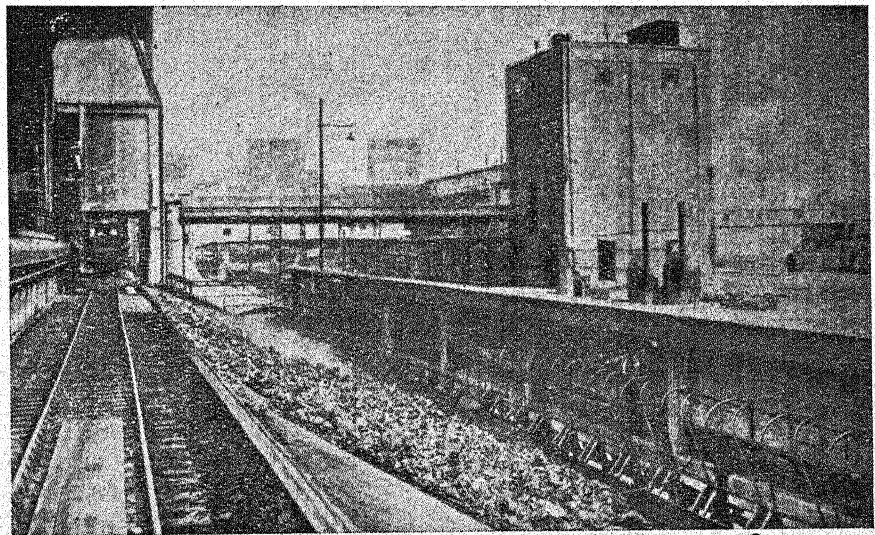
क्या आपको मालूम है कि आज दिन बाज़ारों में 'साफ़्ट कोक' के नाम से जो कोयला बिकता है तथा हमारी अँगीठियों में खाना पकाने के लिए जलाया जाता है, वह कहाँ से आता है? वह खनिज कोयले में से ही गैस निकालकर तैयार होता है। यह इसीके एक कारख़ाने का चित्र है।

फ़ैक्टरियों का ध्यान ही नहीं गया था। गैस तैयार करने-वाली फ़ैक्टरियों के मालिक भी शुरू-शुरू में बड़े परेशान हुए कि कोलतार और अमोनिकल द्रव को कहाँ फेंके।

किन्तु रसायनशालाओं में अनुसन्धान करने पर इन द्रवों की अद्भुत सम्भावनाओं का पता चला। फलस्वरूप अमोनिकल द्रव से अमूल्य खाद 'सल्फेट ऑफ़ अमोनिया', अमोनिया गैस, अमोनियम कार्बोनेट (जो बिस्कुट की रोटियाँ बनाने के काम आती है), अमोनियम क्लोराइड तथा गन्धक का तेज़ाब आदि अमूल्य वस्तुएँ तैय्यार की जाने लगीं।

कोलतार के रूप में तो रसायनिज्ञों के हाथ भानमती का पिटारा लग गया, जिससे वे सैकड़ों चीजें तैयार करने में समर्थ हुए और न-जाने कितनी और चीज़ें तैय्यार कर सकेंगे। अनेक क़िस्म की दस्तावर दवाइयाँ, फ़ोटोग्राफ़ी के काम के रंग, कृत्रिम सुगंध, भाँति-भाँति के रंग, लाइसोल, बेन्ज़ोल तथा पिक्रिक ऐसिड आदि बीसियों प्रकार के विस्फोटक पदार्थ इससे तैयार किये जा रहे हैं। बेन्ज़ोल का प्रयोग दौड़-प्रतियोगिता में भाग लेनेवाली मोटरों में बहुतायत से होता है। पेट्रोल की अपेक्षा बेन्ज़ोल का वाष्पीकरण अधिक तीव्र गति से होता है। अतः रेस-मोटरकारों में पेट्रोल का स्थान बेन्ज़ोल ने ग्रहण किया है। बारीक सूत को साफ़ करने के निमित्त भी बेन्ज़ोल का प्रयोग होता है।

जिस बर्त्तन में कोयला तपाया जाता है, उसकी दीवालों पर भी कठोर कार्बन की तह जम जाती है। इसे ग्रेफ़ाइट के नाम से पुकारते हैं। विद्युत् बैटरी में ग्रेफाइट का प्रयोग एलेक्ट्रोड के रूप में होता है। पेन्सिल के अन्दर भी ग्रेफाइट ही रहती है तथा मशीन के सूक्ष्म पुर्ज़ों में चिकनाहट बनाये रखने के लिए तेल के स्थान पर ग्रेफाइट का चूर्ण ही काम में लाते हैं।

जलाने पर कोयले के अन्दर निहित ताप का केवल १५ प्रतिशत हमें प्राप्त होता है, शेष ८५ प्रतिशत धुएँ के साथ व्यर्थ जाता है। साथ ही धुएँ के बहाने उलटे आपकी गाँठ से पैसे ख़र्च होते हैं। अनुमान लगाया गया है कि अकेले लन्दन में धुएँ के कारण काली हुई
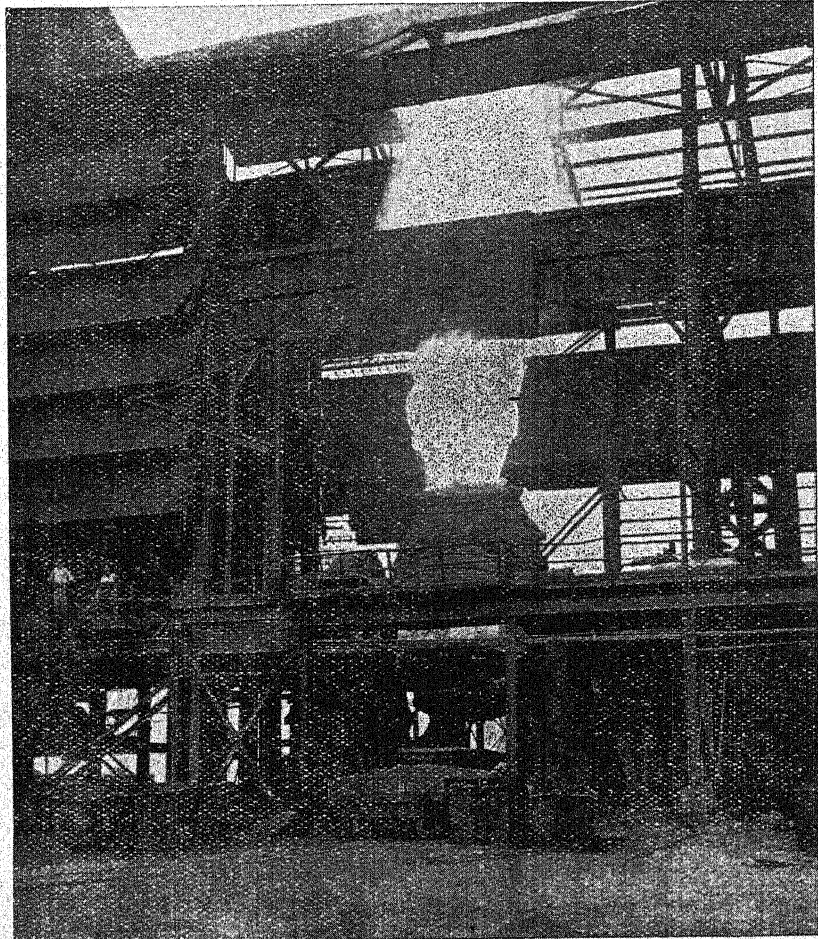
'हिन्दी विश्व-भारती' के एक पिछले अंक में आप लोहे की कहानी पढ़ चुके हैं। आपको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि लोहा यद्यपि इस यंत्र-युग में सर्वोपरि आसन पर प्रतिष्ठित है तथापि वह बहुत अंशों में कोयले पर ही निर्भर है। ऊपर एक लोहे के कारख़ाने के 'बेसेमर कन्वर्टर' का चित्र है, जिसमें शोधे हुए कोयले (कोक) के ही संसर्ग से कच्चा लोहा शोधा जाता है। इस कार्य के लिए १ टन लोहे के पीछे आधे टन कोक की ज़रूरत पड़ा करती है।

इमारतों पर चूने की पुताई कराने या रंग चढ़ाने में लगभग ३ करोड़ रुपये ख़र्च होते हैं। धुएँ के कारण श्वास-संबंधी अनेक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। फलस्वरूप मोटरकार की दुर्घटनाओं में जितने व्यक्ति मरते हैं, उससे कहीं अधिक व्यक्ति धुएँ के कारण उत्पन्न हुई श्वास की बीमारियों के कारण मरते हैं। और ये सब परीशानियाँ केवल इसलिए हैं कि हम कोयले का ईंधन की तरह प्रयोग करने का सही तरीका नहीं जानते।

और यदि कोयले को बन्द भट्ठियों में तपाकर उसकी गैसों को अलग कर देते हैं तो यह कोल-गैस आसानी के साथ ईंधन के रूप में काम में लाई जा सकती है। कोलगैस में निहित ताप का ८६ प्रतिशत हम इस रीति से प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोयले के स्थान पर कोल-गैस जलाना आर्थिक दृष्टि से अधिक वांछनीय है। कोल-गैस और हवा के उचित मिश्रण को जलाने पर प्रकाश भी काफ़ी मात्रा में प्राप्त होता है।

रसायनिज्ञों ने बरसों के अनुसन्धान के उपरान्त पता लगाया कि कोयले से २००० से भी अधिक भिन्न-भिन्न पदार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। कोयले के अन्दर पाँच तत्त्व कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन और गन्धक मौजूद हैं। इन्हीं में से दो-दो तीन-तीन का एक दूसरे के साथ परस्पर रासायनिक संयोग कराकर हज़ारों प्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थ तैयार कर लिये जाते हैं। हमारे देश के नील का पुराना कारबार जो नष्ट हुआ उसकी वजह भी कोलतार से बनाये गये कृत्रिम नीले रंग की नई ईजाद ही है।

कोयले के तपाने से जो गैस निकलती है, वह निस्सन्देह बहुत ही गर्म होती है तथा इसमें हाइड्रोजन सल्फाइड, कार्बन डाइसल्फ़ाइड, कार्बन डाइ-आक्साइड और अमोनिया आदि विजातीय द्रव मिले हुए होते हैं। ईंधन के लिए या रोशनी करने के लिए जलाने के पूर्व इस गैस को शुद्ध करना होता है। इसके लिए गैस को विशेष रीति से 'नहलाना' पड़ता
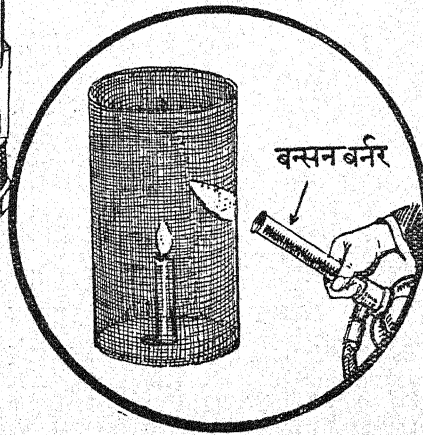
सर हम्फ्री डेवी ने खदानों के लिए ख़ास तौर के एक 'सैफ्टी लैम्प' का आविष्कार किया, जिससे ख़दानों में आग लगने का भय नहीं रहा। इसका सिद्धान्त ऊपर के चित्र में समझाया गया है। यदि कोई जलनशील गैस खान के अंदर हुई तो जाली के अंदर पहुँचते ही यह लैम्प की लौ को छूकर जलने लगेगी! किन्तु जाली का तापक्रम इतना नहीं चढ़ पाता कि उसके स्पर्श से बाहरवाली गैस भी प्रज्वलित हो सके। इसका सिद्धान्त बगल के गोलाकार चित्र में दिखाया गया है। देखिए, बर्नर की गैस खोलते ही उसकी लौ जाली के अंदर तो जलती है पर बाहर नहीं सुलगती।
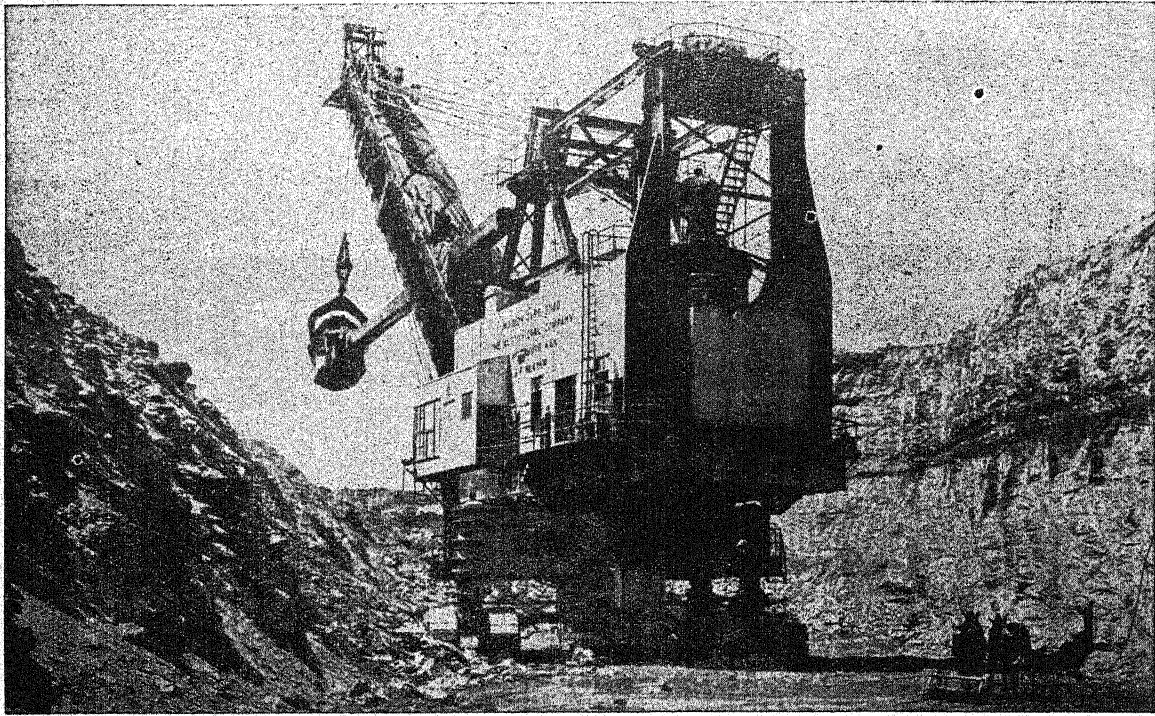
कहीं-कहीं कोयला धरातल से अधिक नीचे नहीं होता और थोड़ा खोदने पर ही उसकी 'सीम' निकल आती है ! ऐसी दशा में कुएँनुमा शैफ्ट न गलाकर ऊपर की तमाम मिट्टी या पत्थर खोदकर अलग कर दी जाती है और इस प्रकार जो लंबा-चौड़ा गढ़ा बन जाता है, उसमें ऊपर से कोयला खोद लिया जाता है। प्रस्तुत चित्र में संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका, की एक कोयले की खदान के लिए मिट्टी खोदकर अलग करते हुए एक भीमकाय 'क्रेन' यंत्र का दृश्य है। यह दैत्याकार मशीन एक बार में अपने विशाल पंजे में पाँच सौ मन मिट्टी उठाकर फेंकने की सामर्थ्य रखती है।

है। इस धुलने की क्रिया में गैस में मिला हुआ कोलतार का अंश भी पूर्णतया अलग हो जाता है।

इस गैस से अभी गन्धक के नन्हें-नन्हें कणों को भी दूर करना है। लकड़ी की तश्तरियों के पेंदे में सूराख़ करके उस पर लोहे की आक्साइड रखते हैं। उनमें से होकर जब गन्धकमय गैस गुज़रती है, तब गन्धक लोहे के संग मिलकर लोहे की सल्फ़ाइड बनाता है। बाद में इस यौगिक से गन्धक को अलग कर लेते हैं।

इस विशुद्ध गैस को विशालकाय टङ्कियों में भरते हैं। अब यह गैस जनता के प्रयोग के लिए तैयार है। 'मीटर' में से होकर नलियों के रास्ते यह गैस लोगों के घरों में ईंधन तथा प्रकाश के लिए पहुँचाई जाती है।

सोवियट रूस में कोयले को खान के अन्दर से निकालकर गैस-फ़ैक्टरी तक ले जाने का झंझट भी हटाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसके लिए खान के अन्दर डायनामाइट के विस्फोट से कोयले को तोड़ देते हैं, और उसे वहीं तपाकर उससे गैस, अमोनिकल द्रव तथा कोलतार प्राप्त कर लेते हैं।

वर्त्तमान युद्ध के छिड़ने पर युद्ध में संलग्न सभी देशों की गवर्नमेण्टों ने पेट्रोल पर कड़ा नियंत्रण लगाया है। फलस्वरूप लारियों और मोटरकारों में पेट्रोल की जगह अब कोयले की गैस का प्रयोग प्रचुरता से किया जाने लगा है। मोटरकार के इंजिन में इस्तेमाल करने के लिए कोयले की गैस के साथ कतिपय हाइड्रोकार्बन मिलाकर उसे दबाव देकर द्रव के रूप में परिणत कर लेते हैं। इस्पात के मज़बूत पीपों के अन्दर से दबाव घटने पर यह स्वयं गैसरूप धारण कर लेती है। यही गैस मोटरकार के इंजिन के सिलिण्डर में जलकर यांत्रिक शक्ति उत्पन्न कर देती है।

कोयले के अन्दर निहित अपरिमित शक्ति को देखकर ही एक अंग्रेज़ लेखक ने इसे 'बोतल-बन्द सूर्य की शक्ति' की उपाधि दी थी, जो सर्वथा इसके गुणों के अनुकूल ही है।
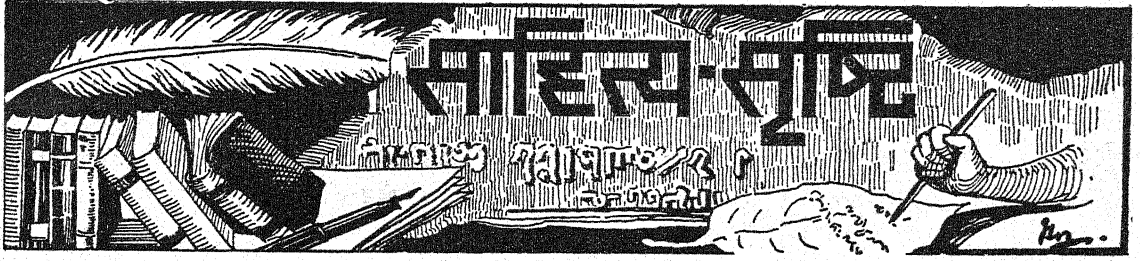
संस्कृत वाङ्मय—(३)

वेदों का काल-निर्णय

संसार के साहित्य में शायद ही कोई ऐसा प्रसंग हो जिसके तिथि-निर्णय के संबंध में इतने विरोधी विचार हों जितने ऋग्वेद के सम्बन्ध में हैं। कई विद्वानों ने २५००० ई० पू० से लेकर २०० ई० पू० तक इसके समय को आँका है। इस गणना में हमने उनके विचार छोड़ दिए हैं जो ऋग्वेद को अपौरुषेय मान उसकी तिथि का विचार ही नहीं उठाते अथवा जो उसके काल को ईसा से लाखों वर्ष पूर्व रखते हैं। इस प्रकार जो लोग अत्यन्त प्राचीन काल में ऋग्वेद को रखते हैं उन्हें दो-तीन बातें न भूलनी चाहिएँ। एक तो यह कि अत्यन्त प्राचीन काल में (जैसे लाखों अथवा २५००० पूर्व) मनुष्य के विकास की ही क्या अवस्था थी यह कहना कठिन होगा, और बहुत संभव है उस युग में तो मानव सभ्यता का शायद कोई रूप ही न रहा हो। शायद अभी अग्नि का ज्ञान भी न हुआ था। दूसरे जो लोग पृथ्वी के स्तरविज्ञान का सहारा लेकर यह कहते हैं कि आर्यों का आदिम निवासस्थान पंजाब था और वही उत्तर भारत में एक सूखा स्थल था, बाक़ी सारी भूमि समुद्र से ढकी जलमग्न थी, वे इस संबंध में दो गहरी ग़लतियाँ करते हैं। पहले तो उक्त भूमि की जलमग्न अवस्था कल्पनातीत पूर्वकाल की होगी, दूसरे यदि मान भी लें कि यह प्रदेश जलमग्न था तो फिर गंगा, यमुना और सरयू-सी पूर्वीय नदियों का ज्ञान आर्यों को क्योंकर हुआ, जिनका कि उल्लेख ऋग्वेद में आया है। फिर यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि ऋग्वेद को हम भाषा की दृष्टि से भी अत्यन्त दूर अथवा अत्यन्त निकट काल में नहीं रख सकते। २५००० वर्ष पूर्व तो कह नहीं सकते कि मनुष्य बोलता भी था या नहीं। फिर इतनी दूर की भाषा में जो अन्तर होना चाहिए वह ऋग्वेद और बाद के उपनिषद् अथवा काव्यों की भाषाओं में नहीं है। एक अद्भुत सिलसिला इस भाषा-विकास का हमें उपलब्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ हज़ार वर्षों के अन्तर पर बहुत ही अप्रगतिशील भाषा तक में भी अन्तर पड़ता है। यही कारण है कि संस्कृत और प्राकृतों में लगभग एक सहस्र वर्षों में इतना अन्तर पड़ गया कि फलतः भारतवर्ष में प्रादेशिक भाषाओं का जन्म हुआ। फिर यदि ऋग्वेद की भाषा २५००० वर्ष पूर्व की मानें तो ब्राह्मणों, उपनिषदों और काव्यों की भाषा तक पहुँचने पर इसका रूप इतना बदल जाना चाहिए था जितना मनुष्य की कल्पना में भी न आ सके। इसके अतिरिक्त यदि इस विचार को मानकर पुराणों में दिए महाभारत-युद्ध से पूर्व के राजवंशों पर दृष्टि डालें तो एक बड़ी विषम और असम्भव समस्या खड़ी हो जाएगी। क्योंकि इनके राजन्य अधिकतर वेदों के समकालीन अथवा उनसे भी प्राचीन हैं और चूँकि इनके प्रदेशों को पुराणकार अति पूर्व की नदियों के काँठों में रखते हैं, अतः इनको जलमग्न प्रदेश में रखना पड़ेगा। इस विचार के विरोध में एक दिक़्क़त यह भी है कि इसमें मध्य-पूर्व एशिया में होनेवाली असुर-सुमेर प्रदेशों और सिन्धु काँठे के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की द्रविड़ सभ्यताओं की खुदाई के आश्चर्यजनक फल का समावेश नहीं है, जिसका निर्देश आगे होगा।

एक विचार ज्योतिष-सम्बन्धी भी है जो स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक और जैकोबी का है। इनमें से प्रथम महोदय ने ऋग्वेद का समय लगभग ६००० ई० पू० और दूसरे ने लगभग ४५०० ई० पू० रखा है। परन्तु दोनों विद्वानों की सम्मतियों में एक बुनियादी कमी है। वह यह है कि ऋग्वेद के जिन मन्त्रों पर यह ज्योतिष-सम्बन्धी गणना की गई है उनका अर्थ संदिग्ध है। ज्योतिष-सम्बन्धी गणना गणित पर अवलम्बित होती है, इसलिए जिन आँकड़ों पर यह गणना की जाय वे स्वयं शिला की भाँति अचल और दिन की भाँति सत्य होने चाहिएँ। परन्तु इन मन्त्रों के भाव अत्यन्त संदिग्ध हैं और इस कारण यह गणना कल्पनात्मिका ही सिद्ध होगी।

२०० ई० पू० के तिथि-निर्धारण संबंधी मत पर विचार

करना व्यर्थ है। क्योंकि छठी शताब्दी ई० पू० के युग में होनेवाले बुद्ध आदि ऋग्वेद और उसके बाद के भी वैदिक साहित्य की प्राचीनता स्वीकार करते हैं।

अब रह गया मैक्समूलर का विचार, जो ऋग्वेद को १२००–१००० ई० पू० के बीच रखता है, परन्तु इस पर पहुँचने में उसने जो साहित्यिक क्रम माना है वह काल-क्रम और भाषा-विकास के दृष्टिकोण से हास्यास्पद है।

विन्टरनित्स ने ऋग्वैदिक साहित्य का प्रारम्भ २५०० ई० पू० के लगभग माना है। यह तिथि सत्य के निकटतम प्रतीत होती है, केवल यह कुछ उससे नीचे है। यदि विन्टरनित्स की पुस्तक का दूसरा संस्करण मध्य-पूर्व एशिया के प्रदेशों की खुदाई के बाद निकलता तो संभव है कि वह विद्वान् तब इस समय को इससे भी पूर्व ३००० ई० पू० के लगभग रखता। यह ३००० ई० पू० का समय ही यथार्थतः ऋग्वेद के प्रारम्भिक मंत्रों का निर्माण-काल जान पड़ता है और इसे मानने में प्रस्तुत मतों के विरुद्ध किसी प्रकार की अड़चन नहीं पड़ती। जिन प्रमाणों के आधार पर यह तिथि इन पंक्तियों के लेखक ने निश्चित की है वे नीचे दिए जाते हैं। इनमें से कई नए हैं, विशेषकर वे जिनका सम्बन्ध मध्य-पूर्व एशिया की पुरातत्व-सम्बन्धी खुदाई और एशिया माइनर के बोग़ज़कोई नामक स्थान से प्राप्त लेखों से है।

(१) ह्यूगो विंक्लर ने सन् १९०७ ई० में एशिया-माइनर के बोग़ज़कोई नामक स्थान में खत्ती राज्य-संबंधी कुछ ईंटें खोद निकालीं। इन पर चौदहवीं शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में खुदे लेखों में खत्ती और मितनी जातियों के संघर्ष के फलस्वरूप जो सन्धि हुई है उसका हवाला दिया गया है और उस सन्धि के साक्षीस्वरूप कुछ वैदिक देवताओं, जैसे मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यों के नाम आए हैं। ये नाम वहाँ कैसे आए, इस संबंध में मतभेद है। कुछ विद्वानों (जैसे मेयर और ज़ाइल्स) का मत है कि ये आर्यों के भारत-प्रवेश से पूर्वकाल के ईरानी आर्यों के देवता हैं। परन्तु यह संभव नहीं, क्योंकि ज़ेन्दावेस्ता में जिस रूप में इन देवताओं के नाम मिलते हैं ये वैसे नहीं हैं। वरन् ये ठीक ऋग्वेद में आए नामों के अक्षरशः अनुकूल हैं। ऋग्वेद को सुरक्षित रखने के लिए जिन आठ तरह के पद, घन, जटा आदि पाठों की व्यवस्था की गई, ठीक उन्हीं में से एक पाठ के अनुरूप बोग़ज़कोई के इन देवताओं के नाम हैं, जैसे मि-इत्-त्र, व-अर्-रु-उण, आदि। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन देवताओं का ज्ञान खत्ती और मितनी जातियों को आर्यों के पूर्वाभिमुख प्रसार के समय नहीं हुआ वरन् तब हुआ जब भारतवर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा पर ऋग्वेद के मंत्रों का निर्माण हो चुका था। और इस संबंध में विद्वान् प्रायः सहमत हैं कि ऋग्वेद के मंत्र भारतवर्ष में ही बने। इसी कारण यह सीधा निष्कर्ष निकलता है कि जब ऋग्वैदिक आर्य भारतवर्ष में बहुत काल से बस चुके थे तब उनकी एक (अथवा अनेकों) शाखा उत्तर-पश्चिम की ओर निकल गई और उन्होंने विजातियों के बीच अपने देवताओं की पूजा प्रचलित की। अब ज़रा यहाँ यह विचार कर लेना चाहिए कि यह समय कब रहा होगा। उपनिवेश-निर्माण के हेतु भारतीय आर्यों का इतिहास में निष्क्रमण बहुत बाद का है—शायद गुप्तकाल के आस-पास, जब हिन्द-महासागर के अनेक द्वीपसमूह भारत के उपनिवेश बने। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन काल में केवल दो समय सिद्ध होते हैं जब इस प्रकार की कोई घटना हुई होगी। एक तो ऋग्वेद में वर्णित दशराज्ञ युद्ध से संबंधित है। पुराण कहते हैं कि इस युद्ध के बाद द्रुह्यु उत्तर की ओर चले गए और वहाँ जाकर वे म्लेच्छों पर राज्य करने लगे। फिर महाभारत के समय में भारतीय आर्यों की शक्ति अतुलनीय हो गई थी, जब उनके चरणों पर प्रायः सारा भारत लोटता था और उनसे मैत्री करने को विश्व उत्सुक रहता था। यह विवरण महाभारत में बड़े विस्तार के साथ मिलता है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय अर्जुन-भीमादि ने भारतेतर देशों का दिग्विजय किया था और उत्तर में अपने उपनिवेश बसाए थे। महाभारत की तिथि, जो सबसे वैज्ञानिक कही जा सकती है और जिसका हम महाभारत के प्रसंग में निश्चय करेंगे, १४०० ई० पू० के लगभग है। इस समय हम कार्यवशात् इस तिथि को ही मान लेते हैं। अतएव यदि महाभारत-युद्ध लगभग १४०० ई० पू० हुआ तो इससे कुछ ही पूर्व ये एशिया-माइनर के आसपास वाले आर्य उपनिवेश बने होंगे। बोग़ज़-कोई के लेख इसके कुछ ही बाद के हैं। इससे यह भी कहा जा सकता है कि आर्यों की कोई और शाखा इससे भी पूर्व वहाँ गई। इससे यह सिद्ध हो जाएगा कि यदि १४०० ई० पू० से पहले ही यह आर्यों की शाखा भारत-वर्ष से आई (यह शाखा संभवतः वही द्रुह्युओं की है जिसका उल्लेख ऊपर कर आए हैं) तो अवश्य आर्यों के भारत में सर्वप्रथम बसने और बाहर फिर लौटकर उप-

निवेश बनाने में लगभग पन्द्रह शताब्दियाँ लगी होंगी। इस प्रमाण से ऋग्वेद के निर्माण का प्रारम्भ लगभग ३००० ई० पू० ठहरता है।

(२) पुराणों में जिन राजवंशों की तालिका दी हुई है उनकी ऐतिहासिकता में संदेह नहीं हो सकता, क्योंकि उनके कितने ही नाम वैदिक साहित्य के ब्राह्मणों, उपनिषदों और वेदों तक में मिल जाते हैं। फिर आख़िर बाद के राजन्यकुलों के ऊपरी छोर तो कहीं न कहीं जा ही मिलेंगे, यदि पिता-पुत्र के क्रम से कुलों का विकास होना निश्चित है। और जब बाद के वंशों, मौर्यादि, के संबन्ध में पुराण सही हैं तो भारत-युद्ध से पूर्व के राजवंशों के संबंध में सही क्यों न होंगे—विशेषकर जब ये पुराण अत्यन्त प्राचीन अनुश्रुतियों से ग्रथित एक पूर्व पुराण पर बने हैं और जब इतिहास-पुराण का अस्तित्व न केवल ब्राह्मण-उपनिषदों में ही वरन् स्वयं अथर्ववेद में भी निर्दिष्ट है! फिर इतनी लम्बी तालिकाएँ मनगढ़न्त कैसे हो सकती हैं, जब उन शृंखलाओं की अनेक कड़ियाँ (राजा) उपनिषदों और ब्राह्मणों में आए उपाख्यानों में मिल जाती हैं? यह भी न भूलना चाहिए कि इन पुराने राजाओं के नाम वैदिक संस्कृत में हैं जो बाद के नामों से पूर्णतया भिन्न हैं। यही कारण है कि जब कभी आधुनिक राजाओं ने अपना वंश प्राचीन करने के लिए मनगढ़न्त वैदिक समय के पूर्वज गढ़े हैं, तब वे हास्यास्पद हो उठे हैं, क्योंकि ये नाम केवल संस्कृत ही रह सके, वैदिक नहीं। यहाँ पर मेरा मतलब पुराणों में दिए राजवंश-वृक्षों के उन भागों से है जो महाभारत-युद्ध (अर्थात् १४०० ई० पू०) के पूर्वकाल के हैं। इनकी पीढ़ियाँ मिलाने पर हम इस काल से लगभग पन्द्रह-सोलह सौ वर्ष पूर्व पहुँच जाते हैं। यही अनुपात लगभग उपनिषदों और ब्राह्मणों में आई गुरुपरम्पराओं की पीढ़ियों को जोड़ने से भी प्राप्त होता है। ये पीढ़ियाँ लगभग ५०-६० हैं और यदि प्रत्येक पीढ़ी का जीवनकाल पच्चीस वर्षों के लगभग मानें तो उनका कुल जोड़ (६०×२५=१५००) क़रीब पन्द्रह शताब्दियों तक जा पहुँचेगा। ये कुल महाभारत-पूर्व के हैं, इसलिए ऋग्वेद का समय फिर ३००० ई० पू० के लगभग जा पहुँचा।

(३) ऋग्वेद द्वैपायन व्यास द्वारा संहिता के रूप में संग्रहीत हुआ। यह व्यास महाभारतकालीन व्यक्ति थे। यदि उनके संग्रह का काल १४५० ई० पू० के लगभग माना जाय तो ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्रों के निर्माण का समय उससे पूर्व ही रखना होगा। अन्तिम मन्त्रों से हमारा मतलब उन मन्त्रों से है जिनमें महाभारत-युद्ध से कुछ ही पूर्व होनेवाले देवापि और शान्तनु-सरीखे व्यक्तियों के नाम भी आए हैं। इस प्रकार इस बृहत् संहिता के प्राचीनतम स्तर बहुत आसानी से लगभग १५०० वर्ष पूर्व रखे जा सकते हैं और तब उनका आरम्भ ३००० ई० पू० के लगभग में होगा।

(४) प्रायः सभी विद्वान् इस बात को मानते हैं कि दक्षिण भारत की आर्यों द्वारा विजय ७०० ई० पू० के लगभग ही हो गई होगी, क्योंकि बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र दक्षिण में ही बने; जिनका समय उस काल के कुछ ही बाद रखा जाता है। परन्तु वास्तव में दक्षिण-विजय का समय बहुत पूर्व रखना पड़ेगा। जिन विद्वानों ने ७०० ई० पू० के लगभग आर्यों की दक्षिण-विजय रखी है, उन्होंने साहित्य का विशेष प्रमाण नहीं लिया है। यथार्थ में उन्हें इस सम्बन्ध में महाभारत-पूर्व की पौराणिक राजवंशतालिका का ऐतरेय ब्राह्मण आदि की अनुश्रुति से मिलान करके यह राय क़ायम करनी थी। यह विचार कि ब्राह्मण-काल (लगभग १५०० ई० पू०) में आर्य कुरुपञ्चाल जनपद से आगे पूर्व में नहीं बढ़े थे, अत्यन्त दोषपूर्ण है और इसे अब शीघ्र छोड़ देना चाहिए। कुरुपञ्चाल जनपद निःसन्देह वैदिक आर्य संस्कृति का केन्द्र था। परन्तु इससे यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि आर्य इस काल में बहुत दूर पूर्व में नहीं बढ़ चुके थे। सांस्कृतिक केन्द्र बहुधा विद्वानों को धोके में डालते हैं। वास्तव में कुरुपञ्चाल में सरस्वती और दृषद्वती, गंगा और यमुना-सी पावन नदियों के बहने के कारण वह जनपद आर्यों की अवध, मध्यभारत और उत्तरी दक्खिन विजय के कई शताब्दियों बाद तक वैदिक संस्कृति का केन्द्र बना रहा। वास्तव में उस दक्षिण-विजय का समय २००० ई० पू० से भी पहले रखना होगा, क्योंकि जैसा ऋग्वेद के स्तरों से ही ज्ञात है, यदि इतने लम्बे काल में आर्य केवल अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब के ही कुछ भागों में बढ़ सके, तो अवश्य दक्षिण तक पहुँचने और बीच का १२३००० वर्गमील प्रदेश जीतने में लगभग पन्द्रह शताब्दियाँ लगी होंगी, विशेषकर जब प्रति इंच भूमि के लिए उन्हें द्रविड़ों से लोहा लेना पड़ा था और जब वे स्वयं परस्पर भी लड़ रहे थे। सो बड़ी आसानी से यह दक्षिण-विजय २००० ई० पू० से भी पहले रखी जा सकती है। एक

प्रमाण और लीजिए। पुराणों के महाभारत-पूर्व का राजवंश-क्रम मिलाने से पता चलता है कि आर्यों का अन्त-संघर्ष, जिसमें सरयू के तट पर राजा चित्ररथ ने अपने प्राण खोए, २००० ई० पू० के लगभग हुआ। चित्ररथ के पिता ने गया के विष्णुपाद और (यू० पी० के) बाँदा ज़िले के कालिंजर पर्वतों पर इन्द्र के लिए यज्ञ किया था। इससे यह सिद्ध है कि आर्य राजाओं ने २००० ई० पू० से पहले ही पूर्वीय संयुक्तप्रांत, अवध और बिहार को जीत लिया होगा। जबलपुर के चतुर्दिक का चेदि जनपद यादव वंशानुक्रम के अनुसार लगभग दस पीढ़ी (यथार्थ में राज्यकाल) बाद जीता गया। इस प्रकार इस घटना का काल लगभग २१५० ई० पू० होगा। चैद्य वंश के राजा कशु की प्रशस्ति ऋग्वेद के आठवें मण्डल में गाई गई है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यह चेदि जनपद पहले-पहल यादव वंश की एक कनिष्ठ शाखा में होनेवाले राजा चिदि द्वारा महाभारत-युद्ध से पचास पीढ़ी अर्थात् लगभग ७५० वर्ष पूर्व जीता गया। इसलिए यह घटना लगभग २१५० ई० पू० घटी। इस प्रकार आर्यों का भारत में प्रादुर्भाव ३००० ई० पू० के लगभग रखना कुछ अनुचित न होगा।

काशी-राजवंश से जान पड़ता है कि काशी आर्यों के हाथ में प्रायः २६०० ई० पू० से भी पहले आ चुकी थी। पौराणिक और पश्चात् वैदिक साहित्य की अनुवृत्ति से ज्ञात होता है कि राजा दिवोदास के राज्य के बाद ही क्षेमक नामक दैत्य ने काशी को उजाड़ डाला था। इससे यह सिद्ध है कि काशी कुछ समय के लिए आर्यों के हाथ से निकल गई थी। ऐतरेय ब्राह्मण से विदित होता है कि विदर्भ देश का राजा भीम राजा सहदेव का समकालीन था। सहदेव दाशराज्ञ युद्ध से चार पीढ़ी बाद यानी लगभग १८५० ई० पू० में विद्यमान् था। इस प्रकार उत्तरी दक्खिन की विजय राजा भीम से पूर्व ही हुई होगी। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यह घटना लगभग पचीस पीढ़ी पूर्व प्रायः बाईसवीं शताब्दी ई० पू० में घटी। अतः जब वैदिक और पौराणिक अनुश्रुतियों के सम्मिलित प्रमाणानुसार विदर्भ (बरार) की विजय लगभग बाईसवीं शताब्दी ई० पू० में ही हो गई तो ऋग्वेद का प्रारम्भिक काल ३००० ई० पू० के आसपास रखना ही पड़ेगा।

(५) ऋग्वेद की तिथि निश्चित करने में जो एक और विशिष्ट प्रमाण सहायक है वह है संस्कृत साहित्य का क्रमिक विकास। इस प्रमाण का उपयोग सर्वप्रथम मैक्समूलर ने किया, परन्तु उसके प्रयोग का ढंग, विशेषकर गणनाक्रम में, अत्यन्त संकीर्ण हो गया है जिसकी तर्कहीनता का प्रतिवाद ह्विट्नी और विन्टरनित्स आदि विद्वानों ने किया है। परन्तु मैक्समूलर के ही तर्क को आधार बनाते हुए और उसकी संकीर्णता से बचते हुए हम ऋग्वेद का काल-निर्णय वैज्ञानिक रूप से कर सकते हैं। यह युक्ति इस प्रकार है। बौद्धों और जैनों ने न केवल उपनिषदों तक के वैदिक साहित्य का वरन् वेदांगों तक का निर्देश किया है। बुद्ध और महावीर छठी शताब्दी ई० पू० के हैं। और जैनों के तीर्थंकर पार्श्व तो उनसे पूर्व संभवतः सातवीं शताब्दी ई० पू० के हैं। सो सातवीं शताब्दी ई० पू० तक सारा वैदिक साहित्य तैयार हो चुका था। और इस बात का प्रमाण मिलता है कि इन से भी पूर्व ही कुछ ऐसे ही वेदविरोधी धर्मवेत्ता पड़े थे जिन्होंने वैदिक साहित्य का भी विरोध किया था। लगभग इसी समय यास्क ने ऋग्वेद की लुप्त परंपरा से खोए वेदार्थ के पुनरुद्धार के लिए प्राचीन निघंटुओं के आधार पर अपना निरुक्त रचा। यास्क के समय अथवा उससे भी बहुत पूर्व वेद का अर्थ दुरूह हो चुका था, जिससे उसके निरुक्त की आवश्यकता पड़ी। और प्राचीन निघंटुकार आचार्यों में से एक, जिनको यास्क उद्धृत करता है, कहता है कि वेद निरर्थक हैं। सो उससे पूर्व ही वेदों की अर्थपरम्परा लुप्त हो चुकी थी। ओल्डेनबर्ग ने यथार्थ ही सिद्ध कर दिया है कि प्राथमिक उपनिषदों और प्राथमिक बौद्ध साहित्यों में कितनी ही शताब्दियों का अन्तर पड़ा होगा। उपनिषद्काल को सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने लगभग ११०० ई० पू० में और प्रोफ़ेसर रानाडे ने लगभग १२०० ई० पू० में रखा है। यह औपनिषदिक विचारों का क्रियात्मकता-काल १२०० ई० पू० और ६०० ई० पू० के बीच हमें रखना होगा। इस बात को न भूलना चाहिए कि उपनिषदों में जो गुरुपरम्परा आई है उसकी पीढ़ियाँ ६० तक हैं। फिर इन उपनिषदों का निर्माण ब्राह्मणों के बाद हुआ। ब्राह्मणकाल को इस प्रकार उपनिषद्काल से पूर्व लगभग १६०० ई० पू० और १२०० ई० पू० के बीच रखना होगा। इन ब्राह्मणों में भी गुरुकुलों की अनेक पीढ़ियाँ दी हुई हैं। ये ब्राह्मण कुछ तो यज्ञ-क्रियाओं को रूप देने और प्रायः ऋग्वेद के प्राचीन मंत्रों के भाव की व्याख्या के निमित्त लिखे गए। अतः १५०० ई० पू० के पहले ऋग्वेद के प्राचीन स्तर निर्मित

हो चुके थे, जिनकी व्याख्या के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी। अवश्य तब इन मंत्रों के भाव-लोप में कुछ शताब्दियाँ बीती होंगी और ऋग्वेद के प्राचीन स्तरों और प्राथमिक ब्राह्मण-ग्रन्थों (लगभग १६०० ई० पू०) के निर्माण में सदियों का अन्तर पड़ा होगा। फिर ब्राह्मणों के पूर्व अथर्ववेद बन चुका होगा। यदि अथर्ववेद के प्राचीन स्तरों का निर्माण-काल प्राथमिक ब्राह्मण-काल से चार सौ वर्ष ही पूर्व मानें तो हम अथर्ववेद के प्राचीन भागों को लगभग २००० ई० पू० में रख सकते हैं। (यहाँ हम अथर्ववेद के उन मंत्रों को छोड़ देते हैं जो ऋग्वेद के हैं।) इस बात को सदा स्मरण रखना चाहिए कि अथर्ववेद बहुत काल तक वेदों में नहीं गिना गया और वेदों की संख्या केवल तीन रही, जिससे वे 'त्रयी' कहलाए। अतएव अथर्ववेद और त्रयी में इतने काल का अन्तर होना चाहिए जितने में त्रयी का रूप भुलाकर अथर्ववेद को भी वेदों की संख्या में गिन लिया गया हो। इस रूप में ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तरों को ३००० ई० पू० के लगभग रखना कुछ अनुचित न होगा।

(६) भाषा-संबंधी सिद्धान्त का निरूपण ऊपर हम कर आए हैं। यहाँ बस इतना ही कह देना उचित होगा कि भाषा और साहित्य का जो क्रम-संबंध एक ओर ईरानी आर्यों की धर्मपुस्तक 'ज़ेन्दावेस्ता' और ऋग्वेद में, और दूसरी ओर ऋग्वेद और ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, सूत्र और इतिहास, पुराण इत्यादि भारतीय संस्कृति में है, उसको देखते हुए हम ऋग्वेद का समय न कल्पनातीत पूर्व न पश्चात् ही रख सकते हैं, अतः उसे बीच में ही कहीं ३००० ई० पू० से उतरते हुए रखना होगा।

(७) ऋग्वेद ग्रन्थ नहीं है 'संहिता' है और इस संहिता की अनुक्रमणियों में सूक्तों के द्रष्टा ऋषियों के नाम दिए हैं। ये ऋषि मानव देहधारी पुरुष और स्त्री थे। उनकी बृहत् संख्या एक लम्बे काल को सामने रखती है। ये ऋषि बहुधा ऋषिकुल विशेष के थे, जिनका आपस में प्रायः संबंध पिता-पुत्र का था। इसी कारण उपनिषदों और ब्राह्मणों की गुरुपरम्परा की तालिकाएँ उनका वह संबंध घोषित करती हैं। ये तालिकाएँ पुराणों में दिए महाभारत-पूर्व के राजकुलों से प्रायः संबंध रखते हैं। ब्राह्मणों और उपनिषदों के कितने ही गुरु इन पौराणिक राजकुलों के गुरु हैं। सो ऋग्वेद के स्तर कई समय में निर्मित हुए हैं। उनका निर्देश हम आरम्भ में कर आए हैं। ये स्तर इतनी बड़ी संहिता में लगभग पन्द्रह शताब्दियों में बने होंगे और चूँकि संहिता का निर्माण १४५० ई० पू० के लगभग व्यास ने किया, ऋग्वेद के स्तर तब तक समाप्त हो चुके होंगे। उनके अन्तिम मंत्रों का निर्माण १४५० ई० पू० के लगभग ही समाप्त हुआ होगा, क्योंकि मंत्र में कौरव-पाण्डवों के निकट-पूर्वज राजा शान्तनु और उसके ऋत्विज् भाई देवापि का उल्लेख हुआ है! अतः यदि ऋग्वेद के प्रारम्भिक मंत्रों का निर्माण-काल पन्द्रह शताब्दी पूर्व लगभग ३००० ई० पू० रखें तो अत्युक्ति न होगी।

(८) अन्तिम और ऊपर के सारे प्रमाणों में कदाचित् सबसे सच्चा प्रमाण वह है जो सिन्धु काँठे के मोहन-जो-दड़ो और पंजाब के हड़प्पा तथा मध्य-पूर्व एशिया की पुरातत्त्व-सम्बन्धी आधुनिक खुदाई से प्राप्त हुआ है। विद्वानों की दृष्टि अभी उधर नहीं गई है, परन्तु आर्यों के भारत में आने और ऋग्वेद के निर्माण के समय पर उस खोज का महान् प्रभाव पड़ सकता है।

विद्वान् प्रायः इस बात में सहमत हैं कि सिन्धु काँठे की सभ्यता द्रविड़ थी। इस निर्णय में सबसे बड़ा सबूत यह है कि मोहन-जो-दड़ो के सहस्रों ठीकरों और प्रस्तरादि स्मारक अवशेषों में एक भी अश्व से सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है। स्वयं गैंड़े के चित्र को उत्कीर्ण करनेवाले लगभग ३०० मुद्रांक (seals) उपलब्ध हुए हैं और वृषभ को उत्कीर्ण करनेवाले तो कितने ही हैं। यदि यह सभ्यता आर्यों की होती तो उनके सतत पार्श्वस्थ अनुचर, दुःख-सुख और यज्ञों के साथी 'घोड़े' का उसमें न होना असम्भव था। फिर जो मानव-आकृतियाँ मिट्टी या प्रस्तर-मिश्रण की मिलती हैं वे स्पष्टतः अनार्य हैं। इस सभ्यता का प्रसार-काल ३५०० ई० पू० और २७०० ई० पू० के बीच रखा गया है। कैसे यह सभ्यता टूटी? सिंधु घाटी की सभ्यता संबंधी अपने ग्रंथ में सर जान मार्शल ने मोहन-जो-दड़ो के घरों की कुछ तस्वीरें दी हैं। इनके निचले कमरों में से कई हाथ-पाँव, मस्तकादि कटे मनुष्यों के अस्थि-पञ्जर बिखरे पड़े हैं। अवश्य यह कथा किसी मानव-आक्रमण का उपसंहार है। पैने अस्त्रों से ही वे जीवित काल में काटे गए हैं। संभवतः आक्रमण से बचने के लिए वे भागे थे, परन्तु आक्रमणकारियों ने उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर मारा। ये आक्रमणकारी कौन थे? हमने ऊपर जो अन्य साधनों द्वारा ऋग्वेद का निर्माण-काल और सम्भवतः आर्यों का भारत-प्रवेश-काल स्थिर किया है वह ३००० ई० पू० के लगभग है। फिर संभवतः वे आर्य ही थे, जिन्होंने

३००० ई० पू० के समीप भारत में प्रवेश कर दो-तीन सौ वर्षों तक निरन्तर लड़कर २७०० ई० पू० के लगभग द्रविड़ों की अद्भुत सभ्यता नष्ट कर दी। ऋग्वेद से विदित होता है कि आर्यों को उन अनार्यों से लड़ना पड़ा था, जो कृष्णकाय थे, अनासा थे, दास और दस्यु थे। इनके सेनापति इल और शूर थे। भारत में ये लोग द्रविड़ों के अतिरिक्त और कौन हो सकते थे? और इन द्रविड़ों का प्रबल निवासस्थान पंजाब और सिन्धु का काँठा था जिसे आर्यों को अपने निवास के लिए तोड़ना पड़ा। इन दुर्द्धर्ष सामरिकों पर विजय पाने के लिए और इनके विशाल दुर्गों को तोड़ने के लिए आर्यों को ऋग्वेद में अपने वीर देवता इन्द्र से अहर्निश प्रार्थना करनी पड़ी। आर्यों ने द्रविड़ों का और इन्द्र ने उनके लौह दुर्गों का अपने वज्र से विध्वंस किया। मिट्टी के बने मकानों में रहनेवाले आर्यों को मोहन-जो-दड़ो आदि के पकाई ईंटों के द्रविड़ों के घर अवश्य लोहे के-से लगे होंगे। अतः आर्यों ने ही द्रविड़ों की यह सभ्यता नष्ट की, क्योंकि आर्यों के भारत-प्रवेश और मोहन-जो-दड़ो के अन्त के छोर प्रायः मिले हैं। एक बात और। जिन कमरों का ऊपर निर्देश किया गया है उन्हीं में से एक में (एक तस्वीर से जान पड़ता है) छोटे अस्थि-पञ्जरों के बीच एक विशालकाय अस्थिपञ्जर भी पड़ा है, जो सम्भवतः किसी आर्य का है। द्रविड़ों से लड़ता हुआ शायद वह आर्य वहीं मारा गया होगा। तस्वीर में एक सजीव पंजाबी कुली भी दिखाया गया है। वह अस्थिपञ्जर उस कुली से भी काफ़ी बड़ा है।

सुमेर (उर प्रदेश) की वह सभ्यता, जिसके अवशेष ईरान में मिले हैं, द्रविड़ों से बहुत मिलती है। उस सभ्यता ने बहुत-कुछ मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता से लिया था, यह सभी विद्वान् मानते हैं। सम्भव है, सुमेर लोग स्वयं द्रविड़ रहे हों। कम-से-कम इतना सत्य है कि सुमेरवाले आर्य न थे और वे अपने उत्तर-पश्चिम के महापराक्रमी असुरों के शत्रु थे। सुमेर-सभ्यता से असुरों का संघर्ष लगभग ३५०० ई० पू० आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे असुरों ने उस सभ्यता का विनाश कर उस पर अपने राज्य खड़े किए। यह कुतूहलजनक बात है कि लगभग इसी समय आर्यों ने सुमेर-सभ्यता से संपर्क रखनेवाली मोहन-जो-दड़ो की द्रविड़-सभ्यता की कमर तोड़ दी। क्या आर्यों और असुरों में वही संबंध था जो सुमेर और मोहन-जो-दड़ो की सभ्यतावालों में था? सम्भवतः। ऋग्वेद के प्राचीनतम मंत्रों में प्रायः ग्यारह स्थलों में असुरों का अविरोधी वर्णन है। वे पराक्रम के प्रतीक समझे गए थे। इसी कारण 'असुर' शब्द वरुण और इन्द्र का विशेषण बना। असुरों ने कोई विशेष पराक्रम के कार्य किए होंगे, जिससे उनका नाम आर्य देवताओं का विशेषण बना। संभव है, यह पराक्रम असुरों द्वारा सुमेर-सभ्यता के विनष्ट होने पर उनको प्राप्त हुआ होगा। फिर जब उन्हीं असुरों से आर्यों का संघर्ष प्रारम्भ हुआ तब आर्यों ने अपने ऋग्वेद के बाद के मंत्रों में उन्हें विरोधी रूप में दर्शा कर राक्षस कहा। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्राचीन असुरों से आर्यों का मध्य एशिया में बहुत दिनों तक संघर्ष चलता रहा, जिससे दोनों टूट गए। असुरों से लड़ने-वाले मध्य एशिया के आर्य पन्द्रहवीं शती ई० पू० के खत्ती-मितनी आदि थे जो संभवतः द्रुह्यु राजन्यों के वंशधर थे, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। संभव है, स्वयं असुर भी आर्यों का ही एक बाद में आनेवाला दल* हो और पृथ्वी के लिए उनमें समय-असमय युद्ध होता रहा हो। निष्क्रमण की एक लहर का दूसरी से टकराना साधारण है। यह बात पौराणिक साहित्य की एक साधारण कथा है कि देव और असुर एक ही पिता के पुत्र थे—कश्यप की सपत्नियों से उत्पन्न। दैत्य दिति से उत्पन्न हुए और आदित्य अदिति से। अदिति से आदित्यों का प्रादुर्भाव स्वयं ऋग्वेद घोषित करता है। दैत्य असुर थे और आदित्य देव आर्य।

इस प्रकार ऋग्वेद का निर्माण-काल लगभग ३००० ई० पू० और १४५० ई० पू० के बीच ठहरता है।

आर्यों के भारत में आने की बात मान ही लेनी पड़ेगी, क्योंकि वीर जाति घोड़ों के रहते हुए चुप नहीं बैठ सकती, जबकि पश्चिम से बराबर हमले हो रहे थे और पंजाब आदि से सुमेर तक एक विरोधी सभ्यता सजग थी। एक-एक चप्पे ज़मीन के लिए जातियाँ लड़ीं, मरीं, और खो गईं।

*** इस असुरों के आर्यों की ही एक लहर होने की संभावना की ओर मेरा ध्यान डा० रामविलास शर्मा ने डा० अनन्तप्रसाद बनर्जी शास्त्री की एक पुस्तक (Asuras) का उल्लेख कर आकर्षित किया। डा० बनर्जी की पुस्तक मध्य-पूर्वी एशिया में की गई खुदाई से पहले ही प्रस्तुत हो चुकी थी, जिससे सुमेर, असुर, और मोहन-जो-दड़ो की सभ्यताओं से प्राप्त सामग्री का उपयोग उसमें शायद न हो सका।**

भील जाति—(१)

अपने पूर्व लेख में मैंने युक्तप्रान्त की एक जरायम-पेशा जाति—डोमों—का वर्णन किया है। प्रस्तुत और अगले लेख में मेरा विचार अन्य एक महत्वपूर्ण जाति का वर्णन करने का है, जो कि देश के किसी-किसी भाग में जरायम-पेशा और कहीं-कहीं एक आदिम जाति मानी जाती है और अन्य कुछ भागों में जिसकी गणना उन जातियों में की जाती है, जो कि शान्तिपूर्ण नागरिकों की भाँति एक स्थान पर बसकर खेती-बारी करके जीविकोपार्जन करती हैं। गत वर्ष जनवरी में लखनऊ विश्वविद्यालय ने उच्च कक्षाओं के छात्रों के दल के साथ इस महत्वपूर्ण जाति का अध्ययन करने के लिए मुझे भेजा था। उसी यात्रा में भील जाति के प्रत्यक्ष अध्ययन के आधार पर जिन निर्णयों पर हम पहुँचे उनका विस्तृत वर्णन आगे दिया जा रहा है।

भील और उनसे मिलती-जुलती जातियों की संख्या लगभग ५ लाख है। सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी में भीलों की संख्या ३६३१२४ दर्ज हुई है। इनमें से १४४८३६ हिन्दू धर्मानुयायी तथा शेष२१८२८८ व्यक्ति आदिम जातीय धर्म को माननेवाले हैं। भीलों से सम्बन्धित कई जातियाँ भिन्न-भिन्न नामों से पुकारी जाती है। सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी के आँकड़ों का यही रहस्य है। पटेलिया, रथिया, भिलाला और मनकर इस सभी जातियों की उत्पत्ति भील जाति से हुई है। भील जाति मध्यभारत की जनसंख्या के दस प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करती है। गुजरात में २२ लाख भील हैं। जिन प्रदेशों में भील विशेष रूप से बसे हुए हैं उनमें गुजरात, ख़ानदेश, मध्यप्रान्त, मारवाड़, मेवाड़ और राजपूताना सम्मिलित हैं और रतलाम, सैलाना, झाबुआ, धार, बड़वानी जैसी मध्यभारत की अनेकों रियासतों में भी बड़ी संख्या में भील पाये जाते हैं।

भीलों की गणना भारत में द्रविड़ों से पूर्व पाई जानेवाली आदिम जातियों में की गई है। भील नाम की व्युत्पत्ति सम्भवतः तामिल शब्द 'बिल' अथवा एक विशेष प्रकार के धनुष से, जो कि भीलों का आक्रमण और रक्षा दोनों हो का प्रधान अस्त्र है, हुई है। प्राचीन तामिल काव्य में 'विल्लवर' (धनुर्धारी) शब्द का प्रयोग प्राक्-द्रविड़ जाति के जंगली मनुष्यों के लिए किया गया है। यदि यह बात सही हो तो यह मानना पड़ेगा कि भील शब्द द्रविड़ भाषा-भाषी जातियों की देन है। यह बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि भीलों के जातीय सम्बन्ध का आधार यह तथ्य है कि भील आज भी
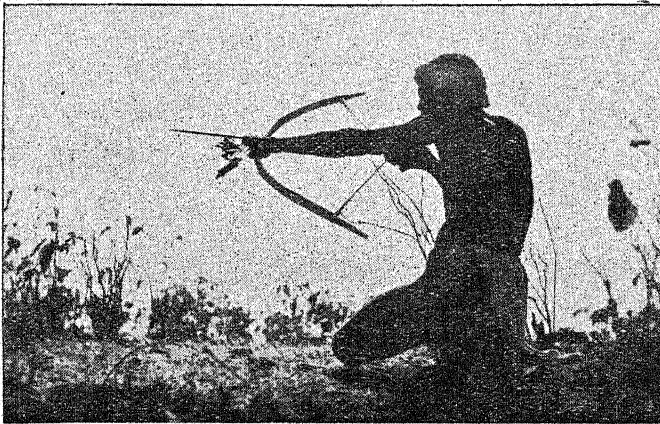
धनुर्धारी भील
(फ़ोटो—लेखक द्वारा)

सामान्यतः धनुष-बाण का ही अपने विशेष अस्त्र के रूप में प्रयोग करते हैं। धनुष का प्रयोग करने के कारण भीलों की गणना कोल, मुण्डा, संथाल तथा कोरवा एवं प्राक्-द्रविड़ जातियों की उन वंशज उपजातियों में की गयी हैं जिनकी उत्पत्ति एक ही मूल जाति से हुई थी, यद्यपि शारीरिक गढ़न की दृष्टि से भीलों और इन जातियों में कोई सादृश्य नहीं मिलता। प्रस्तुत लेख के साथ प्रकाशित चित्र मेरे इस कथन का प्रतिपादन करते हैं। मैं इससे भी आगे बढ़कर निश्चय रूप से कह सकता हूँ कि जातीय दृष्टि से भील गुजरात की सवर्ण जातियों से भिन्न नहीं, सिवाय इस तथ्य के कि उनकी भिन्न-भिन्न कोटि की संस्कृति और रहन-सहन की आदिम प्रणाली के कारण उच्च वर्ण के लोगों की अपेक्षा देश की आदिम जातियों और निम्न-वर्ण के लोगों को उनके साथ मिश्रित होने में अधिक सुगमता हुई है। फलतः आसपास रहनेवाली उच्च जातियों की अपेक्षा भीलों में वर्ण-संकरता के चिह्न अधिक स्पष्ट दीख पड़ते हैं। यही बात उन प्रदेशों के बारे में भी सही है, जहाँ कि भील हिन्दू जातियों के साथ मिल-जुलकर रहते हैं। डा० जे० एच० हटन यही बात स्वीकार करते हुए लिखते हैं:—'शरीर की बनावट की दृष्टि से भील एक मिश्रित नस्ल की जाति प्रतीत होती है जिसमें काकेशियन और आस्ट्रेलाइड जातियों का पुट नज़र आता है और कभी-कभी उनकी शारीरिक गढ़न में ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं जिनमें मंगोल जाति की झलक मिलती है यद्यपि उनके सिर ख़ासे लम्बे मालूम होते हैं।' पर दरअसल सिर का ख़ासा लम्बा होना मंगोल जाति की विशेषता नहीं है, क्योंकि सभी मंगोलों का माथा या तो चौड़ा या गोल होता है।

भील जाति का अस्तित्व प्राचीन काल से ही रहा है। कम-से-कम द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दी ईस्वी पूर्व से ही हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में इनके उल्लेख मिलते हैं। गुजरात में भील जाति वहाँ की सबसे पुरानी जाति की हैसियत से प्रसिद्ध है, किन्तु मेरा ख़्याल है कि अन्य स्थानों की तरह यहाँ भी भीलों की आखेटवृत्ति और उनके धनुष-बाण के प्रयोग ने उनके जातीय सम्बन्ध का निर्धारण किया है, यद्यपि इसके समर्थन में हमारे पास कोई मानव-विज्ञान-सम्बन्धी (anthropological) प्रमाण नहीं है। मि० एन्थोवेन 'ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स ऑफ़ बाम्बे (Tribes and castes of Bombay, Vol. I, Article on Bhil) में लिखते हैं कि गुणाढ्य के कथासरित्सागर में भील शब्द का उल्लेख मिलता है। वहाँ इस बात का उल्लेख है कि विन्ध्याचल पर्वत से होकर आगे बढ़ने पर एक आर्य नृप को एक भील सरदार ने रोका था। फिर भी इससे यह नहीं प्रमाणित होता कि भील अनार्यों के वंशज हैं; क्योंकि विजेता जब कभी विजितों की चर्चा करते थे तो वे उनके लिए अप्रशंसात्मक विशेषणों का प्रयोग करते थे। हाँ, यह उल्लेख भीलों की प्राचीनता का प्रमाण है।

श्री सी० एस० वेंकटाचार्य भीलों का सम्बन्ध निषादों अथवा भारत की पूर्व-द्रविड़ जातियों से बतलाते हुए (भारत की मर्दुमशुमारी रिपोर्ट, प्रथमखण्ड, तृतीय भाग, पृष्ठ ५१) भीलों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न धारणाएँ प्रस्तुत करते हैं—

"इसमें सन्देह नहीं कि ये ऐसी जाति के प्रतिनिधि हैं जो आर्यों और द्रविड़ों से पहले भारत में रहती थी। बहुत सम्भव है कि इनकी उत्पत्ति उन मूल भूमध्यसागरीय प्रदेश की जातियों से हुई हो, जो कि सहारा के घास के विस्तृत मैदानों (Steppes) में जलवायु सम्बन्धी कठिनाइयाँ उपस्थित होने पर, दूर-दूर जाकर फैल गयीं। और यह वही जाति है जिसे कैस्पियन संस्कृति के अन्तिम स्वरूप से सम्बन्धित उद्योगों का विन्ध्य प्रदेश में प्रसार करने का श्रेय प्राप्त है।" आगे चलकर वे पुनः लिखते हैं कि "भील महान् मुण्डा जाति का ही एक सम्प्रदाय है जो कि द्रविड़ों के पूर्व भारत में अपना क़ब्ज़ा जमाये हुए थी और विन्ध्य पर्वत की दूसरी ओर के मध्य के क्षेत्रों में जिसका निवासस्थान था। और सम्भवतः दूसरी तरफ़ बसे हुए द्रविड़ों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उसे अपनी यह वर्तमान उपाधि प्राप्त हुई।" श्री सी० एस० वेंकटाचार्य किस प्रकार भूमध्यसागरीय देशों की जाति से भीलों के उद्गम की सम्भावना और उनके द्रविड़ जाति के वंशज होने की बात में सामंजस्य स्थापित करेंगे, यह मैं नहीं जानता, किन्तु मुझे तो इससे केवल यही पता चलता है कि भीलों की जातीय समानता अथवा सम्बन्ध पर प्रामाणिक रूप से कहने के लिए पर्याप्त प्रमाण लभ्य नहीं हैं। केवल धनुष और बाण का प्रयोग, जिसके कारण भीलों को 'निषाद' बतलाया गया है, इस बात का पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि वे अनार्य जाति के वंशज हैं। निषाद लोग बिना नाक के माने गए हैं अर्थात् दूसरे शब्दों में उनकी नाक चपटी होती और सिरे की ओर धँसी हुई होती है। किन्तु भील जाति की, यहाँ तक कि उसके सबसे जंगली सम्प्रदायवालों की भी नाकें

चिपटी नहीं होतीं और उनके शारीरिक निर्माण की अन्य विशेषताएँ निस्सन्देह इस बात की द्योतक हैं कि वे भू-मध्य-सागरीय देशों की जातियों के वंशज हैं।

अभी हाल में श्रीमती ई० डब्ल्यू० एफ़० मैकफ़रलेन ने भीलों में पाई जानेवाली विभिन्न रुधिर-श्रेणियों का विशेष अध्ययन किया है। उन्होंने यह पता लगाया है कि भीलों में रुधिर-श्रेणी B का प्रतिशत औसत बहुत अधिक होता है। वह भीलों के ४४ व्यक्तियों के रुधिरों की परीक्षा के आधार पर इस परिणाम पर पहुँची हैं और उनका यह विश्वास भी है कि भील B श्रेणी के रुधिर के उद्गम हैं। चूँकि भारत की कई आदिम जातियों और ख़ासकर जरायम पेशा जातियों में B श्रेणी के रुधिर का प्रतिशत अंश बहुत अधिक होता है, अतः यह इस बात का द्योतक है कि भील आदिम जातियों की सन्तान हैं। गुजरात अनुसन्धान संघ (Gujerat Research Society) के निमंत्रण पर हम लोग गुजरात के पंचमहाल ज़िले की भील बस्तियों में गए और हम लोगों ने लगभग ५०० भीलों की रुधिर-परीक्षा की। इन परीक्षाओं के परिणाम से हम इस बात के क़ायल हो गए कि भीलों तथा गुजरात की दूसरी जातियों में कोई फ़र्क़ नहीं है। अतः मैकफ़रलेन के इस कथन का कि भीलों में B श्रेणी का रुधिर बहुत अधिक मात्रा में होता है, समर्थन नहीं होता। ऐसा क़दाचित् इसलिए हुआ कि मैकफ़रलेन ने सम्भवतः कुछ सम्बन्धित परिवारों की ही रुधिर-परीक्षा की। और इसमें आश्चर्य नहीं कि जिन नमूनों की उन्होंने जाँच की उनमें एक विशेष रुधिर-श्रेणी के व्यक्तियों की संख्या अन्य श्रेणी की अपेक्षा बहुत अधिक थी। यदि सचमुच, जैसा कि मैकफ़रलेन का ख्याल है, भीलों के रुधिर में रुधिर-श्रेणी B का अंश प्रतिशत इतना ऊँचा (५४%) विद्यमान् है, तो यह आसानी से माना जा सकता है कि ये लोग गुजरात की हिन्दू जातियों से भिन्न, जिनमें रुधिर-श्रेणी B का प्रतिशत भीलों के प्रतिशत के आधे से भी कम होता है, किसी अन्य जाति से सम्बद्ध रहे होंगे। मानव-शरीर के अन्य मान-निरूपणों से पता चला है कि भील जाति कोई आदिम सम्प्रदाय नहीं है। और यद्यपि भीलों ने आदिम जातियों अथवा पूर्व-द्रविड़ जातियों को अपने में मिल जाने दिया है और उन्हीं से मिलते-जुलते ढंग की निम्न कोटि की ज़िन्दगी भी वे व्यतीत करते हैं, फिर भी मुण्डा, सन्थाल, कादर, इरुल, मलसार तथा मलार्यन जैसी दूसरी पूर्व-द्रविड़ जातियों और भीलों में कोई समानता नहीं पायी जाती। वास्तविकता तो यह है कि आजकल जो भील विन्ध्य पर्वत और उसके सुरक्षित क्षेत्रों में निवास करते हैं, वे इस क्षेत्र के आदि निवासी नहीं हैं। वे सारे देश में पहले फैले हुए थे और प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक काल—विशेषतया ऐतिहासिक काल—की विभिन्न आदिम जातियों से उनकी मुठभेड़ें अरावली की पहाड़ियों तथा विन्ध्य-पर्वत-समूहों के दुर्गम भूभागों में उनकी वर्तमान एकान्तता के लिए ज़िम्मेदार हैं। इसी कारण पर्याप्त मात्रा में अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने में भील समर्थ हुए। भीलों की परम्परागत कथाओं में उनकी वर्तमान एकान्तता का उल्लेख नहीं है। उनमें केवल यह बतलाया गया है कि आरम्भ में भील मालवा के पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहते थे, जहाँ से वे उस समय हटा दिए गए जबकि राजपूतों ने उनके देश पर विजय प्राप्त करना आरम्भ किया था। इन परम्पराओं में भारत के आर्यीकरण के आरम्भिक इतिहास में उनका सर्वप्रथम भाग लेने का भी उल्लेख है।
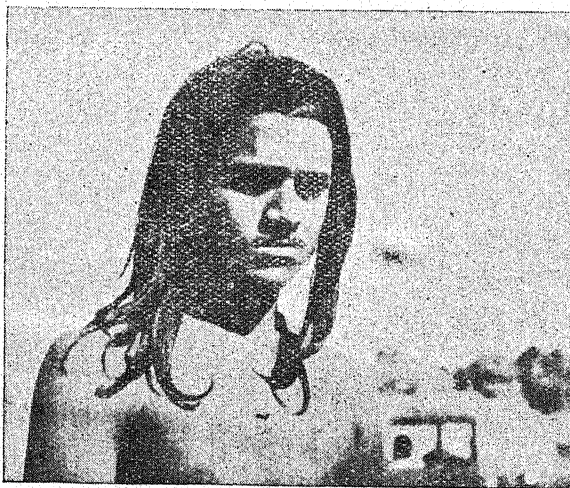
एक भील युवक
(फ़ोटो—लेखक द्वारा)

पुराणों के अनुसार निषादों की उत्पत्ति मनु स्वायंभुव के एक वंशज अंग के पुत्र वेण से हुई। किन्तु इस उत्पत्ति का सम्बन्ध भीलों से नहीं है, सिवा इस तथ्य के कि भील निषाद नामक जातियों की भाँति धनुष और बाण का प्रयोग करते हैं। उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक परम्परागत कथा नीचे लिखे अनुसार है।

भील स्त्रियाँ और बच्चे
(फ़ोटो—लेखक द्वारा)

पाँच भील एक साथ मिलकर महादेवजी से मिलने के लिए गए। पार्वती ने उन्हें अपने निकट आते हुए देखकर अपने पति से कहा—"आपके साथ मेरा विवाह हो जाने के फलस्वरूप मेरे पाँच भाई आपसे दहेज़ माँगने के लिए आ रहे हैं"। महादेवजी ने उन्हें एक प्रीतिभोज दिया। उसके बाद उन्होंने अपनी स्थिति समझाते हुए कहा कि मेरे पास सिवा अपने इस बैल नान्दी और कमण्डल के अतिरिक्त आप लोगों को भेंट करने के लिए कुछ भी नहीं है। इसलिए वे अपने घर वापस चल पड़े। फिर भी उन्हें कुछ-न-कुछ देने के विचार से महादेवजी ने उनके रास्ते में चाँदी की एक तिपाई रख दी। पर वे देख सकने में असमर्थ थे। पार्वतीजी ने यह देखकर कि किस प्रकार उन्होंने मिली भेंट खो दी, उन्हें बुलवाया और सारी घटना समझाई और बतलाया कि चूँकि वे तिपाई को नहीं देख सके अतः उनकी समृद्धि की आशा बहुत कम है, फिर भी वह जो कुछ कर सकेंगी उनके लिए करेंगी। और इस प्रकार पार्वतीजी ने उन्हें सूचित कर दिया कि नान्दी की ओर ध्यान देना उनके लिए विशेष आवश्यक है, क्योंकि उसकी कूबड़ अपरिमित सम्पत्ति से परिपूर्ण है। घर पर पहुँचने पर उन पाँचों में से एक ने यह सुझाव पेश किया कि नान्दी को मार डाला जाय और सम्पत्ति तत्काल प्राप्त कर ली जाय। दूसरों ने ऐसा करने में हिचक दिखलाई, पर अन्त में उसी की बात सबको माननी पड़ी। कूबड़ में कौड़ी की भी सम्पत्ति नहीं निकली, अतः वे पाँचों बड़े निराश हुए। इसी समय पार्वती वहाँ आकर प्रकट हो गईं और उन्हें बतलाया कि बैल के कन्धे पर जुआ डालकर उसे हल में जोतना चाहिए था और इस प्रकार धरती माता से सम्पत्ति प्राप्त करना चाहिए था। चूँकि उन्होंने इतनी मूर्खता दिखलाई कि उस पुनीत पशु की ही हत्या कर डाली, इसलिए कभी भी उनका मुख न देखने की प्रतिज्ञा कर वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर वहाँ से चली गईं। उस पावन पशु की हत्या के कारण ही भील बराबर दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं और उनकी गणना किसी जाति में भी नहीं होती है। यह केवल एक दंतकथा है, पर इससे यह पता चलता है कि किस प्रकार भील अपने को आदिम जातियों से भिन्न मानते हैं और उनके इस दावे का समर्थन मानव-शरीर-मान-निरूपण सम्बन्धी (anthropometrical) प्रमाण भी करते हैं।

भील वास्तव में बड़े दिलचस्प लोग होते हैं। स्वयं अपनी जाति के भीतर उनमें दो ऐसे क़बीले हैं जो क्रम से 'उजले' अथवा शुद्ध और 'मैले' अथवा अशुद्ध कहलाते हैं। ये अपने क़बीले के भीतर ही विवाह कर सकते हैं। इस जाति में एक और तीसरा क़बीला होता है जो कि अन्य दोनों से नीच माना जाता है, क्योंकि उसका पेशा गाना-बजाना होता है। यद्यपि भील जाति के विभिन्न क़बीले पर्याप्त मात्रा में एक दूसरे से मिश्रित हो चुके हैं, फिर भी 'उजले' भील अपने ही क़बीले के भीतर विवाह करने के नियम का बड़ी सख़्ती से पालन करते हैं, केवल कभी-कभी 'मैले' क़बीले की कन्यायें विवाह में भले ही ग्रहण कर ली जाती हैं, पर अपने क़बीले की कन्याएँ वे 'मैले' को नहीं देते। इधर कुछ दिनों से भीलों में यह भावना लोकप्रिय हो गई है कि यह भेद-भाव मिट जाना चाहिए और दोनों क़बीलों को परस्पर में एक दूसरे के भीतर विवाह करने की अनुमति मिलनी चाहिए। किन्तु मिथ्या धारणाएँ या अंध भावनाएँ बड़ी मुश्किल से दूर होती हैं और सारी भील जाति को इस रूढ़ि-प्रथा का उन्मूलन करने में बरसों लग जायँगे। इस प्रकार के निर्णय का प्रभावकारी होना इस कारण और भी कठिन है कि भील बहुत ही विस्तृत क्षेत्र में दूर-दूर पर बसे हुए हैं।

प्रत्येक भील क़बीला कई भिन्न-भिन्न समूहों (Sects) में बँटा है। ये अपने समूह के बाहर ही विवाह-सम्बन्ध कर सकते हैं। एक ही समूह के सदस्यों में परस्पर विवाह वर्जित होता है। इन प्रतिबन्धों के अतिरिक्त ग्रामीण भील नगरों की भील कन्याओं से विवाह नहीं करते,

क्योंकि उनका कहना है कि नगरों में रहनेवाली स्त्रियों के नैतिक चरित्र की विशुद्धता पर भरोसा नहीं किया जा सकता। जाति के बड़े-बूढ़े लोग ऐसी शादियों पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं और इस प्रकार नगरों की भील जनता जाति का एक ऐसा भाग बन गई है जो अपने समूह के भीतर वैवाहिक सम्बन्ध रखती है, यद्यपि इस नियम का बहुत कड़ाई से पालन नहीं होता क्योंकि प्रायः ग्रामीण कन्याएँ धन और शहर की चमक-दमक और वैभव से आकर्षित होकर शहरों में विवाह कर लेती हैं।

समस्त भील जाति में प्रौढ़ विवाह की प्रथा प्रचलित है। ऐसा बहुत कम होता है कि कोई स्त्री १५ वर्ष से कम की अवस्था में और पुरुष २० वर्ष से कम की अवस्था में विवाह करे। केवल सम्पन्न घरों में बाल-विवाह की विशेष सुविधा प्राप्त है और केवल गाँव का मुखिया अथवा समृद्ध कृषक ही इस प्रकार का ठाट कर सकते हैं। विवाह से पूर्व स्त्री-पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध को भील लोग अनुचित मानते हैं और यदि विवाह के पूर्व किन्हीं दो स्त्री-पुरुषों में काफ़ी घनिष्ठता स्थापित हो जाय और इसका पता चल जाय तो जाति के बड़े-बूढ़े अनुशासन के निमित्त उस स्त्री को उस पुरुष की विवाहिता पत्नी क़रार दे सकते हैं। किन्तु उन्हें विवाह के वैधानिक उपचारों के लिए अनुमति नहीं मिल सकती। यदि कोई पुरुष किसी ऐसी कन्या से विवाह करना चाहे जिसका किसी पुरुष से अनुचित प्रेम-सम्बन्ध रहा हो तो वह उस लड़की की स्वीकृति मिलने पर उससे विवाह कर सकता है। किन्तु यदि विवाह से पूर्व के प्रेम-सम्बन्ध के फलस्वरूप कोई शिशु उत्पन्न हो जाय तो जातीय समाज उसकी ज़िम्मेदारी उस दोषी पुरुष के ही सिर मढ़ता है और उसे ही इस नाजायज़ बच्चे के पालन-पोषण का व्यय उठाना पड़ता है। ऐसे विवाहों का उपचार, जिनमें भील वर-वधू बाल्यावस्था के होते हैं, अत्यन्त साधारण होता है। वर और वधू एक दूसरे को वस्त्र और मिष्टान्न का उपहार देकर और उपस्थित व्यक्तियों में गुड़ और मदिरा बाँटकर विवाह-प्रतिज्ञा की पुष्टि करते हैं।

माता-पिता द्वारा तय की गई शादियों में वर-पक्ष की ओर से चार आदमी कन्या के घर पर सगाई तय करने के लिए जाते हैं। यदि कन्या के संरक्षक इस सम्बन्ध के लिए राज़ी होते हैं तो पंच लोगों को सात रुपये दिये जाते हैं ताकि उनसे गुड़ और मदिरा ख़रीदकर बिरादरी के लोगों को भोज दिया जाय। इसके बाद सगाई अकाट्य हो जाती है। शुभ दिन देखकर वर और वधू दोनों को अपने-अपने घरों पर तेल और हल्दी का उबटन लगाया जाता है। दोनों ही को अपने-अपने गाँव में कन्धे पर चढ़ाकर गाँव के चारों ओर होकर जुलूस निकालते हैं, क्योंकि जुलूस में वर-वधू के लिए भूमि स्पर्श करना अशुभ समझा जाता है। यह भी आवश्यक होता है कि वर और वधू दोनों ही इस अवधि में बिल्कुल ही चुप्पी साधे रहें। और अगर किसी अवसर पर दूसरे लोग हँसते भी हैं तो भी उन्हें अपनी इस चुप्पी को बड़ी दृढ़ता और संजीदगी के साथ क़ायम रखना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा करना उन दोनों के लिए असह्य परीक्षा हो जाती है। किन्तु सहनशीलता की इस परीक्षा में उन्हें उत्तीर्ण होना आवश्यक होता है और एकाध सप्ताह के भीतर वे विवाहोत्सव के पश्चात् आनेवाले जीवन के लिए पूर्णतया अनुशासित हो जाते हैं। इस अवधि में ग्रामवासी भी उनके साथ शामिल हो जाते हैं। वे अपने साथ अपना भोजन, अन्य भोज्य पदार्थ तथा सौगातें लाकर वर-वधू के परिवारवालों को देते हैं, जो उन्हें प्रीतिभोज देते हैं। इस ढंग के एक विवाह में हमने देखा कि २१ वर्ष के एक नवयुवक वर का 'बाना बैठना' उत्सव मनाया जा रहा था और वह अपने मित्रों और सम्बन्धियों के कन्धों पर बिठाकर दिन-रात घुमाया जा रहा था। यहाँ तक कि उसकी वृद्धा माता भी उसे अपने कन्धों पर बिठाए हुए प्रशंसकों की भीड़ के साथ-साथ घूमते देखी गई! तत्प-

एक भील युवती
(फ़ोटो—लेखक द्वारा)

श्चात् वर को एक चारपाई पर बिठा दिया गया और उसकी नाक पर रूमाल डाल दिया गया। उस समय तक जब तक कि उपस्थित भीड़ हँसी-मज़ाक़ और आनन्द मनाने में मस्त थी, वह एकदम मौन धारण किए हुए वैसे ही बैठा रहा। कभी-कभी उसका पिता हुक़्क़ा लिये हुए आता और उसे पीने के लिए देता। हुक़्क़े को पीने के बाद वह आदरपूर्वक पास प्रतीक्षा में खड़े हुए अपने पिता को उसे वापस कर देता। इस समय उसे बोल देने या हँसा देने का कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकता था, क्योंकि उसने दृढ़ संकल्प कर रखा था! वह अपने मौन व्रत को भंग नहीं होने देगा, चाहे जो कुछ भी हो। जब उसे सचमुच परेशानी और थकावट महसूस होने लगती तो वह अपनी माँ अथवा बहन को इशारे से बुलाता और तब अपने पिता अथवा किसी निकट सम्बन्धी के कन्धों पर चढ़कर अपने शयन-गृह में चला जाता! इस उपचार की अवधि में, जो कि लगभग एक सप्ताह का होता है, समस्त ग्रामवासी और सम्बन्धी भावी वर और वधू के घरों पर आकर उनसे मिलते हैं। चारों ओर से सौगातों और भेंटों की वर्षा होती है।

'बाना बैठना' उपचार के समाप्त हो जाने के पश्चात् कुछ समय के लिए बाँस के चार लट्ठों पर जामुन की पत्तियों से आच्छादित एक मण्डप तैयार किया जाता है, और चारों ओर आम के पल्लवों से गुँथी हुई बन्दनवार लगा दी जाती है। फूल और झंडियों से भी पण्डाल सजाया जा सकता है। मण्डप के नीचे सम्पन्न होनेवाला प्रथम उत्सव एक प्रीति-भोज के रूप में होता है। इसमें चार क्वाँरे लड़के और लड़कियों को बैठाया जाता है और उन्हें 'मक्काथुली' अथवा एक विशेष प्रकार से बनी मक्का की रोटी, जिसमें अनेक बढ़िया चीज़ें पड़ी होती हैं, खिलाई जाती है। तत्पश्चात् मित्रों और सम्बन्धियों की भोजन और मदिरा की दावत होती है। तदुपरान्त वर चित्ताकर्षक ढंग से सजधजकर मण्डप में आता है। उसके हाथों में एक तलवार और कटार होती है, और पोशाक लाल और सफ़ेद रंग की होती है, जो कि भीलों के विवाह की आम पोशाक है। वह अपनी कमर में एक गमछा भी लपेटे रहता है। उसे मण्डप के नीचे खड़ा किया जाता है और उसकी माता चावल कूटनेवाला मूसल, तीर और सूप लिये हुए आती है, जिसे वह अपने पुत्र के चेहरे के चारों तरफ़ घुमाकर उसका परछन करती है और विशेष प्रकार की बनी चार मोटी रोटियाँ मण्डप के चारों कोनों में फेंकी जाती हैं। जब सब तैयारियाँ पूरी हो जाती हैं तब वह अपनी बरात के साथ वधू के गाँव को रवाना होता है और साधारणतः सूर्योदय के समय वहाँ पहुँचता है।

वर की उपस्थिति में वधू के साथ भी इसी प्रकार का उपचार होता है। वधू के घर में जो मण्डप बना होता है वहीं विवाह की मुख्य क्रिया सम्पन्न की जाती है। इस स्थान पर वधू एक दीपक जलाती है और उसी क्षण वहाँ पर वर लाया जाता है जिसके लिए उस दीपक को फ़ौरन् ही बुझा देना अनिवार्य होता है। तत्पश्चात् वधू के सम्बन्धी दम्पति के शरीर के ऊपरी वस्त्र का गठबन्धन कर देते हैं और वधू का भाई दोनों के हाथों को मिला देता है। इस सेवा के लिए उसे थोड़ा-सा गुड़ दिया जाता है और तब कंगन और ताँबे की अंगूठी क्रमशः वधू की कलाई और उँगली में पहनायी जाती हैं और इसी के साथ विवाहोपचार समाप्त हो जाता है। विवाहोत्सव समाप्त हो जाने के पश्चात् ब्राह्मण द्वारा हवन कराया जाता है, किन्तु यदि ब्राह्मण मौजूद न हुआ तो भील जाति का ही बूढ़ा व्यक्ति यह कार्य करता है। घी तथा तिल आदि अग्निकुण्ड में होमे जाते हैं और दम्पति को उसकी सात बार परिक्रमा करनी पड़ती है। ऐसे गाँवों में जिनमें हिन्दू रीति-नीति का प्रचार नहीं हुआ है, दम्पति एक शमी वृक्ष की बारह बार परिक्रमा करते हैं। प्रथम छः परिक्रमाओं में वर, और शेष छः में वधू आगे-आगे रहती है।

भील वर-वधू—(फ़ोटो—लेखक द्वारा)